हिमालय के योगियों की गुप्त सिद्धियां

सशरीर सैकड़ों मील आकाश में उड़ना, एक साथ चार-पांच स्थानों पर दिखाई देना, मृतात्मा से बातचीत, दूसरे के मन की बात जानना, क्या यह सब सम्भव है?

क्या हिमालय में योगी निवास करते हैं? अगर हां, तो उनका जीवन कैसा है? कैसे रहते हैं वे? क्या खाते-पीते हैं?

अठारह सिद्धियां कौन-सी हैं? क्या इन्हें प्राप्त किया जा सकता है?

हिमालय में कौन-कौन-सी जड़ी-बूटियां हैं?

इन सभी रहस्यों को खोल रहे हैं प्रसिद्ध तान्त्रिक और ज्योतिषाचार्य डॉ. नारायणदत्त श्रीमाली इस पुस्तक में! पढ़िए और चमत्कृत कर देने वाली गोपनीय सिद्धियों के बारे में जानिए।

प्रख्यात ज्योतिषाचार्य, भविष्यवक्ता और तन्त्र-मन्त्र विशेषज्ञ की चमत्कारी कृति

हिन्द पॉकेट बुक्स

Rs. 125
तन्त्र-मन्त्र
TANTRA-MANTRA
AHW HPB HINDI SERIES





ISBN 978-81-216-0459-8

हिमालय के योगियों की गुप्त सिद्धियां — डॉ. नारायणदत्त श्रीमाली

प्रख्यात ज्योतिषाचार्य, भविष्यवक्ता और तन्त्र-मन्त्र विशेषज्ञ

डॉ. नारायणदत्त श्रीमाली

हिमालय के योगियों की गुप्त सिद्धियां



VISIT…

LANZAROTE

Caliente.COM

उनके बारे में...

स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी से मेरा सम्बन्ध उस समय हुआ, जब मैं मात्र ग्यारह वर्ष का था और मेरे पूज्य पिता जी, जो गुरुदेव के गृहस्थ शिष्य थे, ने मुझे गुरुदेव के हाथों में सौंपते हुए कहा था, "यह भले ही मेरा पुत्र हो, पर आज मैं आपके हाथों में सौंपते हुए निश्चिन्त हूं कि आपकी कृपा से यह अचिन्त्य महाशक्ति का एक कण बन सकेगा।" तब से गुरुदेव की कृपादृष्टि मुझ पर सदैव बनी रही।

उनके सान्निध्य में साधकों के प्रति उनका कठोर रूप देखने का अवसर मिला। साधना के क्षेत्र में उन्होंने किसी भी प्रकार की शिथिलता बर्दाश्त नहीं की। हिमालय में उन्हें पैदल ही दुर्गम स्थानों में विचरण करते हुए मैंने देखा। बर्फ़ीले तूफ़ानों में भी अडिग आगे बढ़ते हुए मैंने पाया। कठिन-से-कठिन चुनौती से जूझते हुए अनुभव किया और बाधाएं आने पर मुस्कुराते हुए उनसे पार पाने की क्षमता उनमें अनुभव की। वास्तव में ही योगीराज का प्रत्येक रूप अपने-आप में समर्थ, सशक्त एवं सफल रहा।

हिमालय की गुप्त और लुप्त साधनाओं के वे अग्रदूत माने गए। उन्होंने अकेले जितना काम किया है, उतना कार्य सैकड़ों संस्थाएं भी मिलकर नहीं

कर सकतीं। तन्त्र, मन्त्र, योग, दर्शन, आयुर्वेद सभी क्षेत्रों में अद्वितीय रहे।

योगीराज वर्तमान युग के सही अर्थों में मन्त्र-स्रष्टा तथा तत्त्व चिन्तक के रूप में जाने गए। भारतीय ऋषियों और मनीषियों की उदात्त परम्परा की एक शाश्वत अचिन्त्य कड़ी, जिसके आलोक में वर्तमान और भावी पीढ़ी अपना पथ देख रही है।

योगीराज तपोबल के प्रेरणा-पुंज रहे। उनका सम्पूर्ण जीवन दुःख, परेशानियों, बाधाओं, आलोचनाओं और समस्याओं की तीव्र ज्वाला में सन्तप्त होकर भी निखरा। वह जीवन के सुखों को छोड़कर कष्ट, अभाव एवं बाधाओं के कंटकाकीर्ण पथ पर अग्रसर हुए। जीवन-भर गृहस्थ में रहते हुए भी सही अर्थों में विदेह रहे। परम पूज्य निखिलेश्वरानन्द जी गृहस्थ रूप में नारायणदत्त श्रीमाली के नाम से देश-देशान्तर में ख्यात हुए।

अत्यन्त साधारण गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए भी पुस्तकों और पत्रिकाओं के माध्यम से उन्होंने यथासम्भव अपने को प्रकट किया। यह वास्तव में गौरवमय है कि हम उनके चरणों में बैठकर अपने पूर्वजों की थाती को देख सके, सीख सके, समझ सके और हृदयंगम कर सके। यह हमारे जीवन का सौभाग्य होगा।

मेरा विचार है कि मैं छः खंडों में गुरुदेव से सम्बन्धित संस्मरणों को साकार कर सकूं। इस पुस्तक पर मैंने गुरुदेव का नाम देना अपना अधिकार समझा। मुझे विश्वास है कि यह ग्रन्थ साधकों के लिए प्रकाश-स्तम्भ की तरह बराबर पथ-प्रदर्शन करता रहेगा।

— निर्मल देव चैतन्य

सद्गुरुदेव नारायणदत्त श्रीमाली की ज्ञान-यात्रा

वेद ही सभी प्रकार की विद्याओं के आदि स्रोत हैं। ऋषियों ने वेदों के आधार पर अपनी-अपनी व्याख्या उपनिषदों में स्पष्ट की और यही ज्ञान आगे चलकर पुराण संहिता आदि के रूप में स्पष्ट हुआ। जो ज्ञान हमारे प्राचीन ऋषियों ने दिया, वही ज्ञान मानव जीवन का आधार है। आज हम मानव सभ्यता के विकास की बात करते हैं। यह विकास उचित दिशा में हुआ है, लेकिन इसके साथ-ही-साथ जीवन का सार्वभौमिक सिद्धान्त —

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वेभद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत् ॥

अर्थात सारे व्यक्ति रोग-शोक से रहित हों, सब लोग अपने जीवन में प्रसन्नता का अनुभव करें और स्नेह में निरन्तर वृद्धि हो, दुःख का सदैव नाश होता रहे। यह सिद्धान्त वेदों में ब्रह्मा के श्रीमुख से उद्धृत है, लेकिन आज यह सिद्धान्त कहां फलित हो रहा है? उन्नति की इस अन्धी दौड़ में मनुष्य ने बाहर की यात्रा तो बहुत तेज़ी से की, नए-नए आविष्कार, दूरस्थ ग्रहों की यात्रा, विश्व में संचार सम्पर्क — सब-कुछ बढ़ गया। जीवन के हर पक्ष के लिए विज्ञान ने नवीन रचनाएं कीं, लेकिन उससे भी महत्त्वपूर्ण स्थिति यह है कि क्या आधुनिक विज्ञान, मनुष्य को अपने भीतर की यात्रा कराने में समर्थ हो सका? इतनी उन्नति के बावजूद संसार में असन्तोष, हिंसा, लूट-खसोट, व्यभिचार, अत्याचार, असुरक्षा की भावना बढ़ती ही जा

रही है। आपसी प्रेम और सद्भाव क्यों कम हो रहा है? मनुष्य के जीवन में सुख के सभी उपकरण हैं, लेकिन अन्तर्मन में आनन्द के उपकरण कहां खो गए?

ये ज्वलन्त प्रश्न हैं, जिनका समाधान हमारे वेदों, उपनिषदों में स्पष्ट है। ज्योतिष, आयुर्वेद, योग, साधना, तपस्या इन्हीं से निकली हुई शाखाएं हैं।

विज्ञान हमारी वैदिक संस्कृति में मूल रूप से विद्यमान रहा है, इसीलिए चरक जैसे महान चिकित्सक, सुश्रुत जैसे शल्य चिकित्सक, आर्यभट्ट और भास्कराचार्य जैसे खगोलशास्त्री भी हुए हैं, जिन्होंने वैज्ञानिक सिद्धान्तों की स्थापना की। इन्हीं के साथ महान ज्ञानी ऋषि भी हुए हैं, शंकराचार्य, गौतम, विश्वामित्र, वशिष्ठ, अत्रि, कणाद, वेद व्यास, जिन्होंने जीवन के सिद्धान्तों की व्याख्या की। उनके ज्ञान का मूल आधार यह था कि किस प्रकार मनुष्य अपने जीवन में जन्म से मृत्यु तक की यात्रा स्वस्थ शरीर और चित्त के साथ कर सके। इसके लिए मन्त्रों की रचना हुई। तन्त्र विज्ञान अर्थात क्रिया विज्ञान का विकास किया गया और उसके लिए आवश्यक उपकरण यन्त्र का निर्माण हुआ। ब्रह्मांडीय शक्ति, जिसे देव शक्ति माना गया, उसके और मनुष्य के बीच तारतम्य बैठ सके, उसी हेतु साधना विज्ञान विकसित किया गया। ऋषियों का निश्चित सिद्धान्त था कि ब्रह्मांडीय शक्ति अनन्त है और इस अनन्त ऊर्जा से मनुष्य निरन्तर शक्ति प्राप्त कर सकता है। उस शक्ति को अपनी शक्ति के साथ संयोजन कर, योग कर वह जीवन के दुखों का निराकरण कर सकता है। देवी-देवता, सम्मोहन, आकर्षण, साधना, विज्ञान, मन्त्र, अनुष्ठान, यज्ञ, मुद्राएं इसी सिद्धान्त का प्रकट स्वरूप हैं। ऋषियों की परम्परा में इस साधना ज्ञान का विकास इस शताब्दी में नवीन रूप से अद्वितीय सिद्ध पुरुषों द्वारा किया गया है।

ऐसी ही विशेष दिव्यता के साथ हर युग में ईश्वरीय सत्ता का स्वरूप इस धरा पर महापुरुषों के रूप में प्रकट होता ही है, जो अपने ज्ञान, अपने जीवन चरित्र और अपनी चेतना द्वारा पूरे भूमंडल को एक नई दिशा प्रदान करते हैं। ऐसे युग-द्रष्टा मनुष्य के जीवन में ज्ञान की क्रान्ति लाते हैं, हमारे

जीवन का यह सौभाग्य है कि इस घटाटोप अन्धकार भरे भौतिकता के आडम्बर में बंधी, अपने मूल मूल्यों से विमुख होती जा रही भारतीय संस्कृति को सद्गुरुदेव परमहंस स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी सद्गुरुदेव डॉ. नारायणदत्त श्रीमाली जैसे महान व्यक्तित्व अवतरित हुए, जिनके जीवन का प्रत्येक क्षण इस बात में व्यतीत हुआ कि किस प्रकार मानव-मूल्य उदात्त हो, व्यक्ति अपने जीवन में स्वयं की इच्छा के अनुसार प्रसन्न चित्त जीवन जी सके, अपनी आत्मा का प्रकाश स्वयं देख सके और उसे हर समय यह पूर्ण विश्वास रहे कि उसके पास भौतिकता के साथ आध्यात्मिक सत्ता, ईश्वरीय शक्ति, आराध्य शक्ति, गुरु शक्ति सदैव है, जो उसे जीवन के हर अन्धकार भरे कुएं से बाहर निकालकर शुभ्र प्रकाश चेतना से आप्लावित अवश्य करेगी। उन्होंने यह मार्ग दिखाया कि भौतिकता और आध्यात्मिकता दो विपरीत ध्रुव नहीं हैं, दोनों का संगम मनुष्य के जीवन में अति आवश्यक है —

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुर्विद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥

सद्गुरुदेव डॉ. नारायणदत्त श्रीमाली, जिनका संन्यस्त नाम परमहंस स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी है, ने इस ज्ञान को जन-जन की भाषा में विस्तृत रूप से प्रदान करने हेतु अपने जीवन में संकल्प लिया। इसकी पूर्ति के लिए पूज्यश्री ने पूरे भारतवर्ष का भ्रमण किया, उन अज्ञात रहस्यों की खोज की, जिनके कारण मानव जीवन परिष्कृत और मधुर बन सकता है। उन्होंने संसार में रहकर सांसारिक जीवन को भी पूर्णता के साथ जिया, क्योंकि उनका यह सिद्धान्त था कि गृहस्थ जीवन की समस्याओं के पूर्ण ज्ञान हेतु गृहस्थ बनना आवश्यक है। अनुभव प्राप्त कर ही शुद्ध ज्ञान प्रदान किया जा सकता है। उनके द्वारा रचित सैकड़ों ग्रन्थों में मनुष्य के जीवन में त्रास को मिटाकर सन्तोष और तृप्ति प्रदान करने की भावना निहित है। इसी क्रम में उन्होंने मन्त्र-शास्त्र, तन्त्र-शास्त्र, सम्मोहन विज्ञान, ज्योतिष, हस्तरेखा, आयुर्वेद आदि को वैज्ञानिक एवं तार्किक रूप से स्पष्ट किया।

अपने जीवन की 65 वर्षों की यात्रा में मानव जीवन के लिए उन्होंने ज्ञान का अमूल्य भंडार खोल दिया, क्योंकि उनका कहना था कि ज्ञान ही शाश्वत है। इसी क्रम में उन्होंने सन् 1981 में 'मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र विज्ञान' मासिक पत्रिका प्रारम्भ की, जिसके माध्यम से सारे रहस्यों को स्पष्ट किया। आज लाखों घरों में पहुंच रही इस ज्ञान प्रदीपिका ने भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों की धरोहर स्थापित कर दी है। यह पत्रिका ज्ञान का वह भंडार है, जो मानव जीवन के प्रत्येक पहलू से सम्बन्धित सभी समस्याओं के समाधान प्रस्तुत करने के साथ-साथ जीवन को उर्ध्वमुखी गति प्रदान करने की दिशा में क्रियाशील बनाने का सार्थक प्रयास है।

अपना कार्य पूर्ण कर देने के पश्चात 3 जुलाई, 1998 को सांसारिक काया का त्याग कर वे परमात्मा के साथ अवश्य समाहित हो गए, परन्तु आशीर्वादस्वरूप उनके द्वारा स्थापित 'अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धाश्रम साधक परिवार' और 'मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र विज्ञान' मासिक पत्रिका पूर्ण रूप से गतिशील है। उनके द्वारा प्रदान किया गया ज्ञान ही इसका आधार है और ज्ञान की इस अजस्र गंगा में लाखों शिष्य सम्मिलित हैं। अपने पूज्य पिताश्री के मार्ग पर चलते हुए यह ज्ञान की गंगा निरन्तर प्रवाहित होती रहे, इसी दिशा में सदैव प्रयत्नशील हूं।

डॉ. श्रीमाली मार्ग, हाईकोर्ट कॉलोनी,
जोधपुर-342001 (राजस्थान)
फ़ोन : 0291-2432209, 011-27182248

नन्दकिशोर श्रीमाली
सम्पादक
मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र विज्ञान

नमन

परमहंस स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी का व्यक्तित्व अपने-आप में अप्रतिम, अद्भुत और अनिर्वचनीय रहा है। उनमें हिमालय-सी ऊंचाई है, तो सागरवत गहराई भी, साधना के प्रति वे पूर्णतः समर्पित व्यक्तित्व हैं, तो जीवन के प्रति उन्मुक्त सरल और सहृदय भी। वेद, कर्मकांड और शास्त्रों के प्रति उनका अगाध और विस्तृत ज्ञान है, तो मन्त्रों और तन्त्रों के बारे में पूर्णतः जानकारी भी। यह एक पहला ऐसा व्यक्तित्व है, जिसमें प्रत्येक प्रकार की साधनाएं समाहित हैं, उच्चकोटि की वैदिक और दैविक साधनाओं में जहां वह व्यक्तित्व अग्रणी है, वहीं औघड़, श्मशान और साबर साधनाओं में भी अपने-आप में अन्यतम है।

मैंने उन्हें हज़ारों-लाखों की भीड़ में प्रवचन करते हुए सुना है। उनका मानस अपने-आप में सन्तुलित है, किसी भी विषय पर नपे-तुले शब्दों में अजस्र, अबाध गति से बोलते ही रहते हैं। लीक से एक इंच भी इधर-उधर नहीं हटते। मूल विषय पर, विविध विषयों की गहराई उनके सूक्ष्म विवेचन और साधना सिद्धियों को समाहित करते हुए वे विषय को पूर्णता के साथ इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि सामान्य मनुष्य भी सुनकर समझ लेता है और मन्त्रमुग्ध बना रहता है।

मैं उनके संन्यास और गृहस्थ, दोनों ही जीवन का साक्षी रहा हूं। हज़ारों संन्यासियों की भीड़ में भी उन्हें बोलते हुए सुना है, उच्चस्तरीय विद्वतापूर्ण शुद्ध संस्कृत में अजस्र, अबाध रूप से और गृहस्थ जीवन में भी उन्हें सरल हिन्दी में बोलते हुए सुना है — विषय को अत्यधिक सरल ढंग से समझाते हुए बीच-बीच में हास्य का पुट देते हुए, मनोविनोद के साथ अपनी जो बात वे श्रोताओं के गले में उतारना चाहते हैं।

मुझे इनका शिष्य बनने का सौभाग्य मिला है और मैं इसमें अपने-आप

को गौरवान्वित अनुभव करता हूं। उनके साथ काफ़ी समय तक मुझे रहने का सुअवसर प्राप्त हुआ है, मैंने उनके अथक परिश्रम को देखा है, प्रातः चार बजे से रात्रि को बारह बजे तक निरन्तर कार्य करते हुए भी उनके शरीर में थकावट का चिह्न ढूंढने पर भी अनुभव नहीं होता, वे उतने ही तरोताज़ा और आनन्दपूर्ण स्थितियों में बने रहते हैं, उनसे बात करते हुए ऐसा लगता है जैसे हम प्रचंड ग्रीष्म की यात्रा से निकलकर वट-वृक्ष की शीतल छाया में आ गए हों, उनकी बातचीत से मन को शान्ति मिलती है, जैसे कि पुरवाई बह रही हो, और सारे शरीर को पुलक से भर गई हो।

जीवन्त व्यक्तित्व

ऐसे ही अद्वितीय वेदों में वर्णित सिद्धाश्रम के संचालक स्वामी सच्चिदानन्द जी के प्रमुख शिष्य योगीराज निखिलेश्वरानन्द हैं, जिन पर सिद्धाश्रम का अधिकतर भार है। वे चाहे संन्यासी जीवन में हों और चाहे गृहस्थ जीवन में, रात्रि को निरन्तर नित्य सूक्ष्म शरीर से सिद्धाश्रम जाते हैं। वहां की संचालन व्यवस्था पर बराबर दृष्टि रखते हैं। यदि किसी साधक योगी या संन्यासी की कोई साधना विषयक समस्या होती है, तो उसका समाधान करते हैं और उस दिव्य आश्रम को क्षण-क्षण में नवीन रखते हुए गतिशील बनाए रखते हैं। वास्तव में ही आज सिद्धाश्रम का जो स्वरूप है, उसका बहुत कुछ श्रेय स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी को जाता है, जिनके प्रयासों से ही वह आश्रम अपने-आप में जीवन्त हो सका।

आयुर्वेद के क्षेत्र में भी उन्होंने उन प्राचीन जड़ी-बूटियों, पौधों और वृक्षों को ढूंढ़ निकाला है, जो कि अपने-आप में लुप्त हो गए थे। वैदिक और पौराणिक काल में उन वनस्पतियों का नाम विविध ग्रन्थों में अलग है, परन्तु आज के युग में वे नाम प्रचलित नहीं हैं। अधिकांश जड़ी-बूटियां, काल के प्रवाह में लुप्त हो गई थीं।

अपने 'फ़ार्म' में उसी प्रकार का वातावरण बनाते हुए उन जड़ी-बूटियों को पुनः लगाने और विकसित करने का प्रयास किया। मील से भी ज़्यादा लम्बा-चौड़ा ऐसा फ़ार्म आज विश्व का अनूठा स्थल है, जहां पर ऐसी दुर्लभ जड़ी-बूटियों को उगाने में सफलता प्राप्त की है, जिनके द्वारा असाध्य से असाध्य रोग दूर किए जा सकते हैं। उनके गुण-दोषों का विवेचन, उनकी सेवन-विधि, उनका प्रयोग और उनसे सम्बन्धित जितनी सूक्ष्म जानकारी स्वामी जी को है, वह अपने-आप में अन्यतम है।

'पारद' के सोलह संस्कार ही नहीं, अपितु चौवन संस्कार द्वारा उन्होंने सिद्ध कर दिया कि इस क्षेत्र में उन्हें जो ज्ञान हासिल है, वह अपने-आप में अन्यतम है। एक धातु से दूसरे धातु में रूपान्तरित करने की विधियां उन्होंने खोज निकाली और सफलतापूर्वक अपार जन-समूह के सामने ऐसा करके उन्होंने दिखा दिया कि रसायन क्षेत्र में हम आज भी विश्व में अद्वितीय हैं। उनके कई शिष्यों ने उनके सान्निध्य में रसायन ज्ञान प्राप्त किया है और तांबे से स्वर्ण बनाकर इस विद्या को महत्ता और गौरव प्रदान किया है।

साबर साधनाओं का अन्यतम योगी

साबर साधनाएं जीवन की सरल, सहज और महत्त्वपूर्ण साधना है। ये ऐसी साधनाएं हैं जिनमें जटिल विधि-विधान नहीं है, जिनमें लम्बा-चौड़ा विस्तार नहीं है, जिनमें सूक्ष्म श्लोक संस्कृत में नहीं, अपितु सरल भाषा में हैं। संसार की आठ क्रियाएं ऐसी हैं, जो कई हज़ार वर्ष पहले पूर्ण विकास पर थीं, परन्तु आज ये विद्याएं प्रायः लुप्त हैं, और शायद ही उनके बारे में योगियों को जानकारी होगी। सिद्धाश्रम में अवश्य इनके बारे में निरन्तर शोध हो रहा है, और उन चिन्तनों तथा साधना-विधियों को ढूंढ़ निकाला गया है, जिनकी वजह से ये जीवित हैं।

मैंने देखा कि इस व्यक्तित्व में असीम प्राण चेतना है, सत्य और वास्तविकता से झुठलाकर इसे दबाया नहीं जा सकता। प्रहार कर इसकी गति को अवरुद्ध नहीं किया जा सकता। बहलाकर इसे चुप नहीं कराया जा सकता। इसके मन में भारतवर्ष के प्रति असीम त्याग और अगाध श्रद्धा है। यह भारतवर्ष को पुनः उस स्थिति में ले जाना चाहता है, जो कि इसका वास्तविक स्वरूप है। वह ऋषि-मुनियों के मन्त्रों, साधनाओं और सिद्धियों को सही तरीक़े से पुनः स्थापित करना चाहता है। ज्योतिष और आयुर्वेद के खोए हुए स्थान को पुनः दिलाना चाहता है।

इतना होने पर भी इस व्यक्तित्व में किसी प्रकार का कोई घमंड या अहंकार नहीं है। बाहर और भीतर किसी प्रकार का द्वैत भाव दिखाई नहीं देता, जो कुछ मन में है, स्पष्ट बेलाग शब्दों में कह देता है। यदि इसके शब्दों से किसी को दर्द भी पहुंचता है, तब भी इसके मन में ऐसी कोई किसी को तकलीफ़ देने का उद्देश्य नहीं होता।

उनको देखते ही ऐसा आभास होता है जैसे प्राचीन समय का आर्य अपनी

पूर्ण शारीरिक क्षमता और ज्ञान गरिमा को लेकर साकार है। शरीर लम्बा-चौड़ा, आकर्षक और चुम्बकीय नेत्र, वाणी में गम्भीरता और गरिमा, सिंहवत चाल में दृढ़ता और हृदय में पौरुष -- ये सब मिलकर एक ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं, जिन्हें हमने अपने जीवन में आर्य कहा है, जो हमारे सही आर्यों के पूर्वज हैं।

यह व्यक्तित्व अत्यन्त ही सरल, सौम्य और सहज है, किसी प्रकार का आडम्बर या प्रदर्शन इनके जीवन में नहीं है, आन्तरिक और बाह्य जीवन में किसी प्रकार का कोई लुकाव-छिपाव नहीं है, जो कुछ जीवन में है वही यथार्थ में है और यही इसकी विशेषता है।

कभी-कभी तो इनके इस सरल व्यक्तित्व को देखकर खीज होती है। इतने उच्चकोटि का योगी, इतना सरल, सहज और सामान्य जीवन व्यतीत करता है कि इन्हें देखकर विश्वास ही नहीं होता कि यह साधनाओं के क्षेत्र में अप्रतिम है, सिद्धियों के क्षेत्र में अद्वितीय है। यदि अन्य किसी के पास इन साधनाओं और सिद्धियों का हज़ारवां हिस्सा भी होता, तो वह 'अहं' के मद में चूर रहता, धरती पर पांव ही नहीं रखता।

ज्योतिष के क्षेत्र में स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी ने जो कार्य किया है, वह पूर्ण साधनासम्पन्न संस्था भी नहीं कर सकती। उन्होंने अकेले जितना और जो कुछ कार्य किया है उसे देखकर आश्चर्य होता है।

ज्योतिष की दृष्टि से जन्म-कुंडली में दूसरा भाव द्रव्य से सम्बन्धित है।

और स्वामी जी ने ज्योतिष के नवीन सूत्रों की रचना की। ज्योतिष के उन सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया जो आज के युग के अनुरूप है, जो वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में सही है, उन छोटे-छोटे ग्रन्थों के माध्यम से उन्होंने पूरे देश में एक चेतना पैदा की। ज्योतिष के प्रति उनके मन में चाह उत्पन्न की, उन्हें विश्वास दिलाया, ज्योतिष के क्षेत्र में नवीन कार्य हुए, बिखरे हुए ज्योतिषियों को एक मंच दिया, उन्हें यह समझाया कि यह विज्ञान तभी सफल हो सकता है, जब इसमें पूर्ण समर्पित भाव से कार्य किया जाए। इससे देश और समाज में ज्योतिष के प्रति आस्था उत्पन्न हुई। जब नवीन सूत्रों के माध्यम से — भविष्य-कथन किया गया, तो लोगों को विश्वास होने लगा कि ज्योतिष अपने-आपमें प्रामाणिक विज्ञान है, जिसके माध्यम से हम अपने भविष्य को प्रामाणिकता के

साथ देख सकते हैं, आने वाली विपत्तियों और दुर्घटनाओं को आंक सकते हैं, उसके निवारण के बारे में चिन्तन कर सकते हैं और पूरे जीवन को सही प्रकार से योजनाबद्ध बना सकते हैं, जिससे कि कम-से-कम समय में ज़्यादा-से-ज़्यादा सफलता और पूर्णता पाई जा सके।

आयुर्वेद का आधारभूत व्यक्तित्व

आयुर्वेद के क्षेत्र में योगीराज निखिलेश्वरानन्द जी का योगदान बेजोड़ है। यदि वास्तविक दृष्टि से देखें, तो ज्योतिष और आयुर्वेद — दो ही विद्याएं भारतवर्ष के पास थीं, जिनमें वह पूरे विश्व का अग्रणी था। आज भी विज्ञान के क्षेत्र में विश्व भले ही बहुत आगे बढ़ गया हो, उन्होंने नई टेक्नोलाजी प्राप्त कर ली हो, परन्तु इन दोनों क्षेत्रों में आज भी पूरा विश्व भारतवर्ष की ओर ही देखता है।

ऐसी स्थिति में निखिलेश्वरानन्द जी की चेतना भारतवर्ष में गूंजी कि जब तक प्राचीन ग्रन्थों का आकलन नहीं किया जाएगा, जब तक उन्हें नए परिवेश में स्थापित नहीं किया जाएगा, तब तक सही अर्थों में आयुर्वेद का पुनरुद्धार नहीं हो सकेगा। सबसे बड़ी विडम्बना यह थी कि आयुर्वेद के प्रामाणिक ग्रन्थ तो लगभग लुप्त-से हो गए थे, जो कुछ ग्रन्थ बच गए थे, उनमें जिन जड़ी-बूटियों का विवरण-वर्णन मिलता था, वे आज के युग में ज्ञात नहीं थीं। उस समय उन वनौषधियों को संस्कृत नाम से पुकारते थे, परन्तु आज उन शब्दों से परिचय ही नहीं है, इसीलिए उन वनौषधियों की न तो पहचान हो रही थी और न उसका सही अर्थों में उपयोग ही हो रहा था। यह अपने-आप में अन्धकारपूर्ण स्थिति थी। ऐसी स्थिति में किसी भी वनस्पति को किसी भी नाम की संज्ञा दी जाती थी। उदाहरण के लिए, 'तेलियाकन्द' भारतवर्ष का अद्भुत आश्चर्यजनक पौधा है, जिसमें कैंसर को समाप्त करने का प्रामाणिक और आश्चर्यजनक गुण है। पर पिछले वैद्य सम्मेलन में लगभग 18 व्यक्तियों ने 18 प्रकार के विभिन्न पौधे लाकर उस सम्मेलन में रखे और सभी ने इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि उसने जिस पौधे की खोज की है वही प्रामाणिक और असली तेलियाकन्द है, जिसका विवरण-वर्णन प्राचीन आयुर्वेदिक ग्रन्थों में मिलता है, जब कि वास्तविकता यह थी कि उसमें से एक भी पौधा तेलियाकन्द नहीं था।

ऐसी स्थिति में निखिलेश्वरानन्द जी ने उन प्राचीन जड़ी-बूटियों को खोज निकाला, जिसका विवरण-वर्णन प्राचीन आयुर्वेदिक ग्रन्थों में मिलता है। उनके

चित्र, गुण, धर्म, पहचान आदि की विस्तृत व्याख्या कर समझाया और उन जड़ी-बूटियों से आयुर्वेद जगत को परिचित कराया।

स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी का अधिकांश समय हिमाचल में व्यतीत हुआ है और वे हिमालय के चप्पे-चप्पे से परिचित हैं, प्रत्येक स्थान, उसकी महत्ता, उसकी भौगोलिक और पौराणिक स्थिति का ज्ञान तो स्वामी जी को है ही, साथ-ही-साथ वहां मिलने वाली जड़ी-बूटियों और पेड़-पौधों का भी उन्हें विस्तृत ज्ञान है।

आपने एक शिष्य के सहयोग से नैनीताल और रानीखेत के बीच एक बहुत बड़ा फ़ार्म तैयार करवाया है, जो लगभग एक मील चौड़ा और ढाई मील लम्बा है। इस पूरे फ़ार्म में उन दुर्लभ जड़ी-बूटियों को उगाने का प्रयास किया है, जो धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है। हिमालय के सुदूर अंचल से ऐसे दुर्लभ पौधे लाकर वहां स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने एक छोटी-सी पुस्तिका भी लिखी है, जिसमें उन्होंने उन 64 दुर्लभ जड़ी-बूटियों का परिचय दिया है, जिनका धीरे-धीरे लोप हो रहा है। यदि समय रहते उनका संवर्द्धन नहीं हो सका, तो निश्चय ही वे पौधे समाप्त हो जाएंगे।

इतना व्यस्त व्यक्तित्व होते हुए भी ऐसे पौधों के प्रति उनका ममत्व देखते ही बनता है। उन्होंने कुछ पौधों को हिमालय की बहुत ही ऊंचाई से प्राप्त कर बड़ी कठिनाई से उस फ़ार्म में आरोपित किया है और उनका पालन-पोषण उसी प्रकार से किया है जैसे मां अपने शिशु का करती है।

अज्ञात रहस्यों के ज्ञाता

हम ज्यों-ज्यों प्रकृति के निकट जाते हैं, त्यों-त्यों वह और अधिक रहस्यमयी प्रतीत होती है। पिछले कई हज़ार वर्षों से मानव प्रकृति के इन रहस्यों को समझने का प्रयास करता आ रहा है, परन्तु फिर भी उतनी सफलता नहीं मिल पाई है, जितनी कि वास्तव में मिलनी चाहिए। प्रारम्भ से ही मानव का प्रयत्न प्रकृति पर विजय प्राप्त करना है, और उसके लिए तन्त्र-मन्त्र योग आदि के माध्यम से उसको बस में करने का प्रयास किया, परन्तु आज भी ऐसे कई अज्ञात रहस्य हैं, जिसे प्राप्त करना बाक़ी है।

उन्होंने कहा, "प्रकृति हमारी शत्रु या प्रतिस्पर्धी नहीं अपितु सहायक है। उसके साथ द्वन्द्व करके सफलता नहीं पाई जा सकती, अपितु उसके साथ समन्वय करके ही सिद्धि प्राप्त हो सकती है। इसी स्थिति को और सिद्धान्त को ध्यान

में रखकर पूज्य गुरुदेव ने जो साधनाएं स्पष्ट कीं उनके माध्यम से योगियों ने आसानी से प्रकृति पर विजय प्राप्त की।"

हमारे पूर्वजों और ऋषियों के पास विशिष्ट सिद्धियां थीं, परन्तु उनमें से काल के प्रवाह में बहुत कुछ लुप्त हो गईं। इनमें भी बारह सिद्धियां तो सर्वथा लोप हो गई थीं, जिनका केवल नामोल्लेख इधर-उधर पढ़ने को मिल जाता था, पर उसके बारे में न तो किसी को प्रामाणिक ज्ञान था और न उन्हें ऐसी सिद्धि प्राप्त ही थी। इनमें 1. परकाया प्रवेश सिद्धि, 2. आकाश गमन सिद्धि, 3. जल गमन प्रक्रिया सिद्धि, 4. हादी विद्या — जिसके माध्यम से साधक बिना कुछ आहार ग्रहण किए वर्षों जीवित रह सकता है, 5. कादी विद्या — जिसके माध्यम से साधक या योगी कैसी भी परिस्थिति में अपना अस्तित्व बनाए रख सकता है, उस पर सर्दी, गर्मी, बरसात, आग, हिमपात आदि का कोई प्रभाव व्याप्त नहीं होता। 6. काल सिद्धि — जिसके माध्यम से हज़ारों वर्ष पूर्व के क्षण को या घटना को पहचाना जा सकता है, देखा जा सकता है और समझा जा सकता है, साथ ही आने वाले हज़ार वर्षों के कालखंड को जाना जा सकता है कि भविष्य में कहां क्या घटना घटित होगी और किस प्रकार से घटित होगी। इसके बारे में प्रामाणिक ज्ञान एक ही क्षण में हो जाता है। यही नहीं अपितु इस साधना के माध्यम से भविष्य में होने वाली घटना को ठीक उसी प्रकार से देखा जा सकता है, जिस प्रकार व्यक्ति टेलीविजन पर कोई फ़िल्म देख रहा हो। 7. संजीवनी विद्या — जो शुक्राचार्य या कुछ ऋषियों को ही ज्ञात थी, जिसके माध्यम से मृत व्यक्ति को भी जीवन दान दिया जा सकता है। 8. इच्छा मृत्यु साधना — जिसके माध्यम से काल पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त किया जा सकता है और साधक चाहे तो सैकड़ों-हज़ारों वर्षों तक जीवित रह सकता है। 9. काया-कल्प साधना — जिसके माध्यम से व्यक्ति के शरीर में पूर्ण परिवर्तन लाया जा सकता है और ऐसा परिवर्तन होने पर वृद्ध व्यक्ति का भी काया-कल्प होकर वह स्वस्थ, सुन्दर युवक बन सकता है, रोगरहित ऐसा व्यक्तित्व कई वर्षों तक स्वस्थ रहकर अपने कार्यों में सफलता पा सकता है। 10. लोक गमन सिद्धि — इसके माध्यम से पृथ्वी-लोक में ही नहीं, अपितु अन्य लोकों में भी उसी प्रकार से विचरण कर सकता है, जिस प्रकार से हम कार के द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान या एक नगर से दूसरे नगर जाते हैं। इस साधना के माध्यम से भूलोक, भुवःलोक, स्वःलोक, महःलोक, जनःलोक, तपःलोक, सत्यलोक, चन्द्रलोक, सूर्यलोक, पाताल और वायुलोक में भी जाकर वहां के निवासियों से मिल सकता है, वहां की श्रेष्ठ विद्याओं को प्राप्त कर सकता

है और जब भी चाहे एक लोक से दूसरे लोक तक जा सकता है। 11. शून्य साधना — जिसके माध्यम से प्रकृति से कुछ भी प्राप्त किया जा सकता है, खाद्य पदार्थ, भौतिक वस्तुएं और बहुमूल्य हीरे-जवाहरात आदि शून्य से प्राप्त कर मनोवांछित सफलता और सम्पन्नता अर्जित की जा सकती है। 12. सूर्य विज्ञान — जिसके माध्यम से एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ में रूपान्तरित किया जा सकता है।

अपने तपोबल से पूज्य निखिलेश्वरानन्द जी ने इन सिद्धियों को उन विशिष्ट ऋषियों और योगियों से प्राप्त किया, जो कि इसके सिद्धहस्त आचार्य थे। मुझे भलीभांति स्मरण है कि परकाया प्रवेश साधना उन्होंने सीधे विश्वामित्र से प्राप्त की थी। साधना के बल पर उन्होंने महर्षि विश्वामित्र को अपने सामने साकार किया और उनसे ही परकाय प्रवेश की उन विशिष्ट साधनाओं, सिद्धियों को सीखा जो कि अपने-आप में अन्यतम है। शंकराचार्य के समय तक तो परकाया प्रवेश की एक ही विधि प्रचलित थी, जिसका उपयोग भगवत्पाद शंकराचार्य ने किया था, परन्तु योगीराज निखिलेश्वरानन्द जी ने विश्वामित्र से उन छः विधियों को प्राप्त किया, जो कि परकाया प्रवेश से सम्बन्धित हैं। परकाया प्रवेश केवल एक ही विधि से सम्भव नहीं है, अपितु कई विधियों से परकाया प्रवेश हो सकता है। यह निखिलेश्वरानन्द जी ने सैकड़ों योगियों के सामने सिद्ध करके दिखा दिया।

इन बारहों सिद्धियों में वे सिद्धहस्त आचार्य हैं। कभी-कभी तो ऐसा लगता है जैसे यह अलौकिक और दुर्लभ सिद्धियां नहीं, अपितु उनके हाथ में खिलौने की तरह हैं, जब भी चाहें वे इनका प्रयोग और उपयोग कर लेते हैं। इन समस्त विधियों को उन्होंने उन महर्षियों से प्राप्त किया है, जो इस क्षेत्र के सिद्धहस्त आचार्य और योगी रहे हैं।

उन्होंने हिमालय स्थित योगियों, संन्यासियों और सिद्धों के सम्मेलन में दो-टूक शब्दों में कहा था कि तुम्हें इन कन्दराओं में निवास नहीं करना है और जंगल में नहीं भटकना है, इसकी अपेक्षा समाज के बीच जाकर तुम्हें रहना है। उनके दुःख-दर्द को बांटना है, समझना है और दूर करना है।

मैंने कई बार अनुभव किया है कि उनके दरवाज़े से कोई ख़ाली हाथ नहीं लौटा, जिस शिष्य, साधक, योगी या संन्यासी ने जो भी चाहा है उनके यहां से प्राप्त हुआ। गोपनीय-से-गोपनीय साधनाएं देने में भी वे हिचकिचाए नहीं। साधना के मूल रहस्य स्पष्ट करते, अपने अनुभवों को सुनाते, उन्हें धैर्य बंधाते, पीठ पर हाथ फेरते और उनमें जोश तथा आत्मविश्वास भर देते कि वह सब-कुछ

कर सकता है, और यही गुण उनकी महानता का परिचायक है।

सिद्धाश्रम के प्राण

सिद्धाश्रम देवताओं के लिए भी दुर्लभ और अन्यतम स्थान है। जिसे प्राप्त करने के लिए उच्चकोटि के योगी भी तरसते हैं। प्रत्येक संन्यासी अपने मन में यही आकांक्षा पाले रहते हैं कि जीवन में एक बार सिद्धाश्रम प्रवेश का अवसर मिल जाए। यह शाश्वत पवित्र और दिव्य स्थल, मानसरोवर और कैलास से भी आगे स्थित है, जिसे स्थूल दृष्टि से देखा जाना सम्भव नहीं। जिनके ज्ञान-चक्षु जाग्रत हैं, जिनके हृदय में सहस्रार का अमृत धारण है, वही ऐसे सिद्ध स्थल को देख सकता है।

ऋग्वेद से भी प्राचीन यह स्थल अपने-आप में महिमामंडित है। विश्व में कोई बार सृष्टि निर्माण हुआ और कई बार प्रलय स्थिति बनी, परन्तु सिद्धाश्रम अपने-आप में अविचल स्थिर रहा। उस पर न काल का कोई प्रभाव पड़ता है, न वातावरण-जलवायु का। वह इन सबसे परे अगम्य और अद्वितीय है। ऐसे स्थान पर जो योगी पहुंच जाता है, वह अपने-आप में अन्यतम और अद्वितीय बन जाता है।

महाभारतकालीन भीष्म, कृपाचार्य, युधिष्ठिर, भगवान कृष्ण, शंकराचार्य, गोरखनाथ आदि योगी आज भी वहां सशरीर विचरण करते हुए देखे जा सकते हैं, अन्यतम योगियों में स्वामी सच्चिदानन्द जी, महर्षि भृगु आदि हैं, जिनका नाम स्मरण ही पूरे जीवन को पवित्र और दिव्य बनाने के लिए पर्याप्त है।

यह मीलों लम्बा फैला हुआ सिद्ध क्षेत्र अपने-आप में अद्वितीय है। जहां न रात होती है और न दिन। योगियों के शरीर से निकलने वाले प्रकाश से यह प्रतिक्षण आलोकित रहता है। गोधूलि के समय जैसा चित्ताकर्षक दृश्य और प्रकाश व्याप्त होता है, ऐसा प्रकाश वहां बारहों महीने रहता है। उस धरती पर सर्दी, गर्मी आदि का कोई प्रभाव प्रतीत नहीं होता। ऐसे सिद्धस्थल पर रहने वाले योगी कालजयी होते हैं, उन पर जरा-मृत्यु आदि का प्रभाव व्याप्त नहीं होता।

यह उनके ही प्रबल पुरुषार्थ का फल है कि आज सिद्धाश्रम अपने-आप में जीवन्त स्थल है, जहां मस्ती, आनन्द, उल्लास, उमंग और हलचल है, जहां गति है, जहां चेतना और सप्रभाणता है। आज सिद्धाश्रम को देखने पर ऐसा लगता है कि यह नन्दन कानन से भी ज़्यादा सुखकर और आनन्ददायक है।

तन्त्र मार्ग का सिद्ध पुरुष

सही अर्थों में देखा जाए तो तन्त्र भारतवर्ष का आधार रहा है। तन्त्र का तात्पर्य व्यवस्थित तरीक़े से कार्य सम्पन्न होना है। प्रारम्भ में तो तन्त्र भारतवर्ष की सर्वोच्च पूंजी बनी रही, बाद में धीरे-धीरे कुछ स्वर्णिम और अनैतिक तत्त्व इसमें आ गए, जिन्हें न तो तन्त्र का ज्ञान था और न इसके बारे में कुछ विशेष जानते ही थे। देह-सुख और भोग को ही उन्होंने तन्त्र मान लिया था।

तन्त्र तो भगवान शिव का आधार है। उनके माध्यम से ही तन्त्र का प्रस्फुटन हुआ। जो कार्य मन्त्रों के माध्यम से सम्पादित नहीं हो सकता, तन्त्र के द्वारा उस कार्य को निश्चित रूप से स्पष्ट किया जा सकता है। मन्त्र का तात्पर्य है प्रकृति की उस विशेष सत्ता को अनुकूल बनाने के लिए प्रयत्न करना और अनुकूल बनाकर कार्य सम्पादित करना। पर तन्त्र के क्षेत्र में यह स्थिति सर्वथा विपरीत है। यदि सीधे-सादे तरीक़े से प्रकृति वशवर्ती नहीं होती, तो बलपूर्वक उसे वश में किया जाता है और ऐसी क्रिया को ही 'तन्त्र' कहा जाता है।

पर तन्त्र तलवार की धार की तरह है। यदि इसका सही प्रकार से प्रयोग किया जाए, तो तुरन्त एवं अचूक सिद्धिप्रद है, पर इसके विपरीत यदि थोड़ी भी असावधानी और ग़फ़लत कर दी जाए, तो तन्त्र प्रयोग स्वयं कर्ता को ही समाप्त कर देता है। ऐसी कठिन चुनौती को निखिलेश्वरानन्द ने स्वीकार किया और तन्त्र के क्षेत्र में उन स्थितियों को स्पष्ट किया, जो कि अपने-आप में अब तक गोपनीय रही है।

उन्होंने दुर्गम और कठिन साधनाओं को तन्त्र के माध्यम से सिद्ध करके दिखा दिया कि यह मार्ग अपेक्षाकृत सुगम और सरल है। यदि साधक पूर्ण क्षमता के साथ साधना सम्पन्न करता है, तो उसे विशेष सिद्धि प्राप्त हो सकती है। यद्यपि तन्त्र के क्षेत्र में स्वामी जी को जितनी चुनौतियों का सामना करना पड़ा, वह अपने-आप में अन्यतम है। कई स्वार्थी तान्त्रिकों ने उन पर विविध प्रयोग किए, उनको समाप्त करने का षड्यन्त्र किया, परन्तु स्फुलिंग कभी भी बुझ नहीं सकता। उन पर चाहे जितना ही दबाव और प्रयोग किया जाए फिर भी वह अपने-आप में चमकता ही रहता है। स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी भी उन कसौटियों पर खरे उतरे, तन्त्र के क्षेत्र में अद्वितीयता प्रदान की।

त्रिजटा अघोरी तन्त्र का एक परिचित नाम है। पर गुरुदेव का शिष्यत्व

पाकर उसने यह स्वीकार किया कि यदि सही अर्थों में कहा जाए तो स्वामी निखिलेश्वरानन्द तन्त्र के क्षेत्र में अन्तिम नाम है। न तो उनका मुक़ाबला किया जा सकता है और न इस क्षेत्र में उन्हें परास्त किया जा सकता है। एक प्रकार से देखा जाए तो वे सही अर्थों में वह शिव स्वरूप है, जिनका प्रत्येक शब्द अपनी अर्थवत्ता लिये हुए है। जिन्होंने तन्त्र के माध्यम से उन गुप्त रहस्यों को उजागर किया है, जो अभी तक गोपनीय रहे हैं।

आज इस व्यक्तित्व को गृहस्थ के रूप में देखकर विश्वास नहीं होता कि यह साधारण-सा धोती-कुर्ता पहने हुए जो व्यक्ति दिखाई दे रहा है, उसके अन्दर ज्ञान और चेतना का समुद्र हिलोरें ले रहा है। यह विश्वास नहीं होता कि यह वही व्यक्तित्व है, जिसने पूरे हिमालय को अपने पैरों से नापा है, जिसने एक-एक क्षण पूरी सार्थकता के साथ जिया है।

गृहस्थ जीवन में इस व्यक्तित्व ने अपने उद्देश्य प्राप्ति के मार्ग में जितनी बाधाएं, कष्ट, परेशानियां, अड़चनें और समस्याएं अनुभव की हैं, उतना शायद ही किसी ने अनुभव किया होगा। पग-पग पर लांछन, तिरस्कार, अपमान और व्यंग्यबाणों के कड़वे घूंट पीने पड़े हैं। समाज के षड्यन्त्रों का गरल अपने गले में उतारना पड़ा है। इतना होने पर भी यह व्यक्तित्व अपने-आप में अडिग है, अपने पथ पर गतिशील है।

इतना होने पर भी योगीश्वर निखिलेश्वरानन्द प्रसन्नचित्त हैं, वे सब-कुछ जानते हुए भी अनजान बने रहते हैं। असीम सिद्धियां प्राप्त होने पर भी सामान्य मनुष्य की तरह उन बाधाओं का सामना करते हैं। अड़चनों और कठिनाइयों से जूझते हैं और यथासम्भव सामान्य बने रहते हैं। उनका कहना है, "मैं अपनी व्यक्तिगत और सामाजिक समस्या के निराकरण के लिए साधना और सिद्धियों का सहारा नहीं लूंगा।"

वस्तुतः उनका गृहस्थ जीवन अत्यधिक सुखी और सफल है। गृहस्थ के रूप में अपने-आप को पूरी तरह से छुपाए हुए है। उनका कहना है कि यदि गृहस्थ रहना है, तो सामान्य गृहस्थ ही बने रहना है। गृहस्थी में रह करके भी उन्होंने गुरुदेव की आज्ञा का निर्वाह किया है। भारतवर्ष की खोई हुई थाती को पुनः जीवित कर, उसे समाज को सौंपा है।

ऐसे अद्वितीय गृहस्थ योगी स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी को शत-शत-नमन।

गणपति स्तवन

किसी व्यक्ति के जीवन काल में हमें उसकी महत्ता का आभास नहीं होता। जो बुद्धिजीवी हैं, जिन्होंने पूर्व जीवन में पुण्य किया है, वे अवश्य ही ऐसी विभूतियों के दर्शन, सत्संग, साहचर्य आदि से लाभ उठा लेते हैं। भगवान राम के समय में भी उन पर सैकड़ों लांछन लगाए गए, जीवन-भर उन्हें बिना पत्नी के ही जीवन व्यतीत करना पड़ा, कृष्ण को जीते जी जितना दुःख, अपमान, लांछन और तिरस्कार सहन करना पड़ा। उतना शायद ही किसी को करना पड़ा होगा। उस समय शायद उनका मूल्य और महत्त्व लोग नहीं समझ पाए, पर आज हम उनको ईश्वर कहते हैं।

मैं उनके साथ कई वर्षों तक रहा हूं। सैकड़ों-सैकड़ों घटनाएं मेरे मानस में हैं, एक बार मनाली में स्वामी जी विचरण कर रहे थे। उस समय मैं उनके साथ था। व्यास गुफा के सामने हम सभी शिष्य बैठे हुए थे। स्वामी जी उस दिन प्रसन्नचित्त थे। मेरे ही गुरु भाई हरिहर स्वामी ने अवसर देखकर पूछा, "क्या इसी व्यास गुफा में गणेश जी ने चारों वेदों को और उनके भाष्य को लिखा था?"

स्वामी जी ने उसकी ओर देखा और बोले, "निश्चय ही यही वह पावन स्थल है, जहां वेदव्यास ने समस्त वेदों और पुराणों का सम्पादन किया था। वे बोलते जाते थे और गणेश लिखते जाते थे। मगर यह घटना समाप्त नहीं हुई है, आज भी यहां वेदव्यास और गणेश विद्यमान हैं।"

इस बार हम सब शिष्यों के चौंकने की बारी थी। मैंने पूछा, "क्या अभी भी वेदव्यास और पार्वतीनन्दन गणेश यहां पर विद्यमान हैं?"

स्वामी जी ने कहा, "अवश्य ही। क्योंकि यह सारी भूमि उनके ही सौरभ से सुरभित है। मैं अभी भी उन दोनों को व्यास नदी के किनारे विचरण करते हुए देख रहा हूं। आप लोग चाहें तो उन्हें देख सकते हैं।" हम सब रोमांचित हो उठे। युगपुरुष वेदव्यास और भगवान शिव के समर्थ पुत्र गणेश के दर्शन हम शिष्यों को इतनी आसानी से हो सकेंगे, इसकी तो कल्पना ही नहीं की थी।

स्वामी जी ने हम सबको आंखें बन्द करने को कहा और स्तोत्र की कुछ पंक्तियां उच्चारित कीं, जो कि आज भी मुझे स्मरण हैं।

ॐ लं नमस्ते गणपतये। त्वमेव प्रत्यक्षं तत्त्वमसि॥ त्वमेव केवलं कर्तासि। त्वमेव केवलधर्तासि। त्वमेव केवलं हर्तासि॥ त्वमेव सर्वं खल्विदम्ब्रह्मासि। त्वं साक्षादात्मासि नित्यं। ऋतं वच्मि। सत्यं वच्मि अव त्वं माम। अव वक्तारम्॥ अव श्रोतारम्॥ अव दातारम्॥ अव धातारम्। अवानुचानमवशिष्यम्॥

सम्भवतः ये 'गणेश-उपनिषद्' की ही पंक्तियां रही होंगी। अकस्मात हम सबके नेत्र स्वतः खुल गए। हम सभी का मुंह व्यास नदी की ओर था। देखा कि सामने ही शिला पर भगवान वेदव्यास बैठे हुए हैं और इनके पास ही गणेश बैठे हुए कुछ लिख रहे हैं। वेदव्यास निरन्तर बोले जा रहे हैं और गणेश बिना सिर उठाए लिखते जा रहे हैं।

वस्तुतः यह क्षण अपने-आप में इतना महान था कि सौ वर्ष के सारे अनुभव भी इस क्षण के सामने तुच्छ हैं। यह दृश्य इतना महान और अद्वितीय था कि हम सब रोमांचित-पुलकित थे और अपने को गौरवान्वित अनुभव कर रहे थे।

इस घटना का साक्षी मैं ही नहीं, अपितु हरिहर स्वामी, किंकर बाबा, शुद्धानन्द जी, प्रियरंजन स्वामी आदि कई हैं, जो इस समय जीवित हैं।

भैरवः पूर्णरूपो हि

मनाली से चालीस किलोमीटर दूर अव्यय पहाड़ प्रसिद्ध है। एक बार हम सब उसी पहाड़ की चोटी पर बैठे हुए थे। स्वामी जी दैनिक पूजा सम्पन्न कर गुफा से बाहर निकले ही थे कि हम सबको देखकर उन्होंने आशीर्वचन कहा। तभी उनकी दृष्टि एक कापालिक पर पड़ी, जो कि हम सब शिष्यों के पीछे एक कोने में बैठा हुआ था। ललाट पर सिन्दूर का बड़ा-सा तिलक, बलिष्ठ शरीर, तांबे जैसा रंग, लम्बी और रक्तिम आंखें और सुदृढ़ स्कन्ध।

स्वामी जी ने पूछा, "यह कौन है?" फिर उसकी ओर मुख़ातिब होकर बोले, "कापालिक हो?"

उसने खड़े होकर हाथ जोड़े और बोला, "कापालिक ही नहीं भैरव हूं! साक्षात भैरव।"

स्वामी जी हंस दिए, बोले, "भैरव तो कुछ और होता है। तू तो भीख मांगने वाला और नरमुंड खाने वाला कापालिक ही हो सकता है।"

इतना सुनते ही उसकी त्यौरियां चढ़ गईं। यह पहला मौक़ा होगा, जब किसी ने उसके सामने इतनी कठोर बात कही। वह उठ खड़ा हुआ उसकी आंखों से रक्त की बूंदें टप-टप टपक पड़ीं।

स्वामी जी ने कहा, "उत्तेजित होने की ज़रूरत नहीं। तू जो कुछ कर रहा है, मैं समझ रहा हूं और मैंने वर्षों पूर्व यह सब-कुछ करके छोड़ दिया है। अपने-आप में दर्प करना ठीक नहीं। कापालिक को तो सीखना चाहिए और अपने जीवन में भगवान रुद्र के अवतार भैरव को हृदयस्थ करना चाहिए।"

हमने अनुभव किया कि कापालिक कुछ वामाचारी क्रिया सम्पन्न कर रहा है और इसीलिए अपने नेत्रों से रक्त की बूंदें प्रवाहित कर रहा है, पर इससे स्वामी जी बिल्कुल विचलित नहीं हुए। लगभग दस मिनट बीत गए। उस पहाड़ी पर बिल्कुल निस्तब्धता थी। सुई भी गिरती तो आवाज़ सुनाई दे सकती थी। तभी स्वामी जी ने मौन भंग किया। बोले, "कापालिक, ऐसी छोटी और मामूली मारण क्रियाएं मेरे ऊपर लागू नहीं होंगी, बेकार अपना समय बरबाद कर रहा है। तू कहे तो मैं तेरे आराध्य को यहीं पर प्रकट कर सकता हूं।"

कापालिक ने एक क्षण के लिए स्वामी जी को देखा और अनुभव किया कि वास्तव में ही उसकी मारण क्रियाओं का कोई भी प्रभाव स्वामी जी पर नहीं पड़ रहा। यही नहीं, अपितु वह सामने खड़ा व्यक्ति तो कह रहा है कि यदि कहो तो आराध्य काल भैरव को प्रकट किया जाए।

कापालिक ने कहा, "आप मेरे इष्ट, 'काल भैरव' के दर्शन करा देंगे?"

"अवश्य। यदि तू चाहेगा तो अवश्य दर्शन होंगे।"

कापालिक घुटनों के बल झुक गया जैसे कि उसने पूज्य गुरुदेव की अभ्यर्थना

की हो। तभी स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी के मुंह से भैरव ध्यान स्वतः उच्चरित हो गया —

फुं फुं फुल्लारशब्दो वसति फणिपतिर्जायते यस्य कण्ठे।
डिं डिं डिन्नातिडिन्नं कलयति डमरू यस्य पाणौ प्रकम्पम्।
तक् तक् तन्दातितन्दान् धिगिति धिगिति धीर्धीयते व्यामवाग्भिः
कल्पान्ते तांडवीय सकलभयहरो भैरवो नः स पायात्॥

और तभी एक भीमकाय तेज पुंज पुरुषाकृति साकार हो गई। ऐसा लग रहा था जैसे स्वयं काल ही पुरुष रूप में साकार हो गया हो। सारे शरीर से तेजस्वी किरणें निकल रही थीं, और ऐसा लग रहा था जैसे उस जंगल में उनचास पवन प्रवाहित होने लग गए हैं। पहाड़ स्वयं थरथराने-सा लगा और प्रचंड वेग से आंधी बहने लगी। हमारे देखते-देखते उस पहाड़ पर कई पेड़ जड़ सहित उखड़ कर गिरने लगे। सूर्य का ताप ज़रूरत से ज़्यादा बढ़ गया और हम सब उस व्यक्तित्व के तेजस-ताप से झुलसने लगे।

यह स्थिति लगभग एक या डेढ़ मिनट रही होगी, परन्तु यह एक मिनट ही अपने-आप में एक वर्ष के समान लगा। हम सब काल भैरव को साक्षात अपने सामने देख रहे थे। इतनी भयंकर, तेजस्वी और अद्वितीय पुरुषाकृति पहली बार ही हमारे सामने उपस्थित थी।

कुछ ही क्षणों बाद वह पुरुषाकृति शून्य में विलीन हो गई, पर्वत का थरथराना स्वतः रुक गया और वायु पुनः धीरे-धीरे बहने लगी।

काल का क्षण अमिट है

एक बार बातचीत के प्रसंग में स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी काल की सूक्ष्म व्याख्या करते हुए समझा रहे थे कि जो भी घटनाएं घटित होती हैं, वे अपने-आप में अमिट एवं चिरस्थायी होती हैं। उदाहरण के रूप में उन्होंने बताया कि भगवान राम, सीता और लक्ष्मण के साथ पैदल वन की ओर चले, तो वह दृश्य अपने-आप में अमिट है। यद्यपि यह घटना घटित हो चुकी है, परन्तु वह बिम्ब अभी भी ब्रह्मांड में विद्यमान है। विशेष मन्त्रों के द्वारा उस बिम्ब को सामने साक्षात किया जा सकता है और ठीक उसी दृश्य को अपनी आंखों से पुनः देखा जा सकता है।

बातचीत के समय बंगाल के योगीराज ज्ञानेन्दुस्वामी, मां आनन्दमयी और

योगीराज दिव्य पद्मस्वामी भी उपस्थित थे। देहरादून से आगे मसूरी एक रमणीय स्थल है। यहीं से कुछ मील की दूरी पर लाल टीबा पर हन टीला बाबा के आश्रम के बाहर बैठे हुए थे।

मां आनन्दमयी ने प्रश्न किया कि भगवान कृष्ण ने कुरुक्षेत्र के मध्य में खड़े होकर अर्जुन को गीता का पवित्र सन्देश अपने श्रीमुख से दिया था। क्या यह दृश्य ब्रह्मांड में स्पष्ट है? और क्या किसी भारतीय का सौभाग्य हो सकता है कि उस बिम्ब को या दृश्य को अपनी इन आंखों से प्रत्यक्षतः देखे?

योगीराज ने जवाब दिया, "काल का प्रत्येक बिम्ब अमिट है और उसे समाप्त नहीं किया जा सकता। प्रत्येक घटना, प्रत्येक बिम्ब और प्रत्येक शब्द ब्रह्मांड में व्याप्त है। योगी अपनी साधना के बल पर उस बिम्ब को पकड़ने में सक्षम हो पाता और वह स्वयं तो उस दृश्य को देखता ही है, अपने शिष्य और साधकों को भी उस घटना या बिम्ब से साक्षात करा सकता है।"

मां आनन्दमयी चुप रह गई। यद्यपि उसका चेहरा कह रहा था कि यदि ऐसा सौभाग्य जीवन में मिल जाए तो वास्तव में ही यह सारा जीवन सार्थक हो जाए। स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी ने उसके भावों को ताड़ लिया, बोले, "क्या तुम उस दृश्य को देखना चाहती हो?"

हम सब उत्साह और प्रफुल्लता से एक साथ बोले, "यदि वही दृश्य हूबहू इन चर्मचक्षुओं से देख सकें, तो इससे बड़ा सौभाग्य और क्या हो सकता है? यदि आपकी कृपा हो जाए, तो अवश्य ही यह स्वप्न सार्थक एवं साकार हो सकता है।"

स्वामी जी कुछ क्षणों तक आंखें बन्द कर ध्यानस्थ हो गए। लगभग पांच-सात मिनट ऐसे ही व्यतीत हो गए। हम सब सतृष्ण नेत्रों से गुरुदेव की आंखों की ओर ताक रहे थे। थोड़ी ही देर में उन्होंने आंखें खोलीं और बोले, "मैंने उस क्षण को पहचान लिया है और साधना के द्वारा मेरे सामने स्पष्ट है। आप सब इस चट्टान की ओर ध्यानपूर्वक देखें। आप वह सब कुछ देख सकेंगे, जो कि आप देखना चाहते हैं।"

कुछ ही क्षणों बाद मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, जब मैंने देखा कि विशाल मैदान में एक तरफ़ कौरव अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित खड़े हैं, जहां तक

दृष्टि जाती थी सैनिक-ही-सैनिक दिखाई दे रहे थे। सैनिक महाभारत के समय के अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित थे। दूसरी तरफ़ पांडव सेना साफ़-साफ़ दिखाई दे रही थी, और मैं देख रहा था इन दोनों के मध्य में एक अत्यधिक सुन्दर तेजस्वी रथ, उसके ऊपर लाल ध्वजा फहरा रही थी और ध्वज-दंड के ऊपर हनुमान बैठे हुए थे। रथ में सारथी के स्थान पर भगवान कृष्ण अत्यधिक तेजस्वी मुकुट पहने हुए और अर्जुन पूर्ण योद्धा वेश में सज्जित बैठे थे। उनके स्कन्ध पर गांडीव लटका हुआ साफ़-साफ़ दिखाई दे रहा था। बिल्कुल मेरे सामने ही स्पष्ट दृश्य साकार था और मैं भगवान कृष्ण के मुख से निकले हुए शब्द अपने कानों से साफ़-साफ़ सुन रहा था, "ऊर्ध्व मूलमधः शाखमस्वत्थम प्राहुख्ययं—"

मेरा सारा शरीर रोमांचित हो उठा। ऐसा लग रहा था कि मैं अपनी आंखों से ही उस दृश्य को नहीं देख रहा हूं, अपितु मेरे रोम-रोम में आंखें बन गई हैं, और हज़ारों-हज़ार आंखों से मैं उस अलौकिक दृश्य को देख रहा हूं।

मैंने अपनी आंखें मलीं, इधर-उधर देखा, तो सभी गुरु भाई एकटक मूर्तिवत उस दृश्य को देख रहे थे। मेरे सामने न तो पहाड़ था, न किसी प्रकार की शिला। मेरे सामने तो पूरा मैदान विविध सैनिकों से भरा हुआ था। शायद यह भीष्म पितामह हैं, शायद वही दुर्योधन और कृपाचार्य हैं, उधर द्रोणाचार्य खड़े-खड़े साफ़-साफ़ दिखाई दे रहे हैं और उन दोनों के मध्य रथ पर भगवान श्रीकृष्णचन्द्र को देख रहा हूं। कितना उज्ज्वल दृश्य है, कितना अलौकिक बिम्ब है, मेरे सामने।

जो कुछ देखा था वह अद्वितीय है, जो कुछ देख रहा हूं वह अवर्णनीय है। मैं द्वापर युग में घटित इस घटना का साक्षी हूं। अपनी आंखों से भगवान श्रीकृष्ण के दर्शन कर सका हूं, और दर्शन ही नहीं अपितु उस पूरे दृश्य को अपने जीवन में देख सका हूं।

तभी स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी की आवाज़ गूंज उठी, "क्या सोच रहे हो?" और मैंने देखा कि वह दृश्य समाप्त हो चुका था। सामने मसूरी की पहाड़ियां साफ़-साफ़ दिखाई दे रही थीं और हमारे पास ही शिला पर पूज्य गुरुदेव मुस्कुराते हुए हम सबको वात्सल्य भाव से देख रहे थे।

ना जा हि, ना जा हि

इन दिनों रोग निदान एवं चिकित्सा विज्ञान बहुत आगे बढ़ गया है, परन्तु उस

समय पक्षाघात या तपेदिक मृत्यु का ही पर्याय मानी जाती थी। जिस प्रकार कैंसर इन दिनों असाध्य बीमारी समझी जाती है, उसी प्रकार उन दिनों तपेदिक भी असाध्य बीमारी समझा जाता था।

उन दिनों हम कुछ दिनों से टिहरी (गढ़वाल) के बाहर स्थित थे, वह स्थान प्रकृति की दृष्टि से अत्यधिक सुन्दर और रमणीय था। लताओं और कुंजों से आवृत्त एक झोंपड़ी थी। स्वामी जी को वह स्थान अत्यधिक आनन्दप्रद लगा और वे कुछ समय के लिए वहीं रुक गए।

धीरे-धीरे स्वामी जी की चर्चा पूरे टिहरी और आसपास के स्थानों में फैल गई, परन्तु सम्भवतः उन दिनों स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी कुछ विशेष साधनाओं में संलग्न थे, अतः दिन में सिर्फ़ आधे घंटे के लिए ही झोंपड़ी से बाहर निकलते थे। हम लोगों को कड़े शब्दों में हिदायत थी कि न तो कोई झोंपड़ी में जाएं और न किसी को मिलने के लिए भेजें।

रात्रि को भी उनकी साधना उसी झोंपड़ी में अबाधगति से चलती रहती। उन दिनों टिहरी के शासक श्री विश्वनाथ जी थे, जो कि अत्यधिक कुशल प्रशासक माने जाते थे। वे राजवंश से सम्बन्धित थे। उन्होंने कई बार स्वामी जी से मिलने का प्रयत्न किया, परन्तु कुछ संयोग ही ऐसा होता था कि मिलना सम्भव ही नहीं हो रहा था। इस उपक्रम में लगभग डेढ़ महीना बीत गया।

हम देखते कि विश्वनाथ जी अपने साथ नित्य बग्घी में एक बालक लेकर आते हैं और बिना कुछ बताए स्वामी जी को न पाकर वापस लौट जाते हैं। हमने एक दिन सायंकाल इसकी चर्चा गुरुदेव से की, तो वे मुस्कुराकर चुप रह गए कुछ बोले नहीं।

अब विश्वनाथ जी को समय का ज्ञान हो गया था और यह भी पता चल गया था कि प्रातः लगभग ग्यारह बजे स्वामी जी कुटिया से बाहर निकलते हैं और आधा घंटा विचरण करने के बाद पुनः कुटिया में लौट जाते हैं। उसके अगले दिन विश्वनाथ जी बग्घी में एक मरियल से युवक को लेकर ठीक ग्यारह बजे उस कुटिया तक पहुंच गए। संयोग से उसी समय स्वामी जी भी कुटिया से बाहर निकलकर स्वच्छ शिला पर आकर बैठे थे।

तभी विश्वनाथ जी स्वामी जी के चरणों में गिर पड़े और उस मरियल से दुबले-पतले लड़के का हाथ पकड़कर बोले, "महाराज, यह मेरा इकलौता और

एकमात्र पुत्र है। दुर्भाग्य से यह क्षय से ग्रस्त है और डॉक्टरों ने उसकी अन्तिम अवस्था बताई है। उनके अनुसार यह चार-छः महीनों से ज़्यादा जीवित नहीं रह सकेगा," और कहते-कहते उनकी आवाज़ भीग गई।

स्वामी जी ने रूखेपन से जवाब दिया, "तो मैं क्या करूं? किसी डॉक्टर या वैद्य को दिखाओ।"

"मैंने बहुत दिखाया और इसके इलाज पर लगभग एक लाख से भी ज़्यादा ख़र्च कर चुका हूं, परन्तु क्षय का अर्थ तो मौत ही होता है। यदि यह लड़का मर गया, तो मेरे वंश का नाश हो जाएगा। मुझे कोई पानी देने वाला भी नहीं बचेगा।"

"तूने जनता पर बहुत जुल्म ढाए हैं। उसका फल तो तुझे भोगना ही था। बेईमानी और मक्कारी से जितना धन तूने इकट्ठा किया होगा, वह सब इसकी बीमारी में ख़र्च हो जाएगा।"

हम पहली बार स्वामी जी के मुंह से इतनी कड़वी बातें सुन रहे थे। टिहरी में विश्वनाथ जी अत्यन्त दबंग व्यक्तित्व माने जाते थे। उनसे साधारण प्रजा तो क्या, राजवंश के लोग भी थर्राते थे। वही विश्वनाथ इस समय मेमना बना हुआ सब-कुछ सुन रहा था।

"आपका नाम मैंने काफ़ी सुना है और अब आप ही मेरे इस चिराग़ को बचा सकते हो। आपको छोड़कर मैं और कहां जा सकता हूं," यह कहते-कहते विश्वनाथसिंह जी ने और उस मरियल 21-22 साल के लड़के ने भी स्वामी जी के पैर कसकर पकड़ लिये।

स्वामी जी ने थोड़ा-बहुत प्रतिरोध किया, परन्तु दोनों ने अन्तिम आशा की उम्मीद में उनके पैर पकड़ लिये थे।

स्वामी जी ने कहा, "अच्छा" और अपने पास पड़ी डंडी को ज़ोर से उस लड़के की पीठ पर दे मारी। डंडी लगते ही लड़का चीख़ा और पलटकर रह गया। उसके मुंह से सफ़ेद-सफ़ेद झाग निकलने लगा। हम सब हतप्रभ थे। वह आधी पसली का लड़का इस चोट को शायद ही सहन कर पाए। झाग के बाद मुंह से ख़ून आएगा और उसकी मृत्यु निश्चित है।

विश्वनाथसिंह जी ने आहत नेत्रों से यह सब देखा और चुप रह गए। अभी

भी उनके हाथ स्वामी जी के पैरों को पकड़े हुए थे।

दो क्षण बाद ही लड़के ने आंखें खोल दीं और मुंह से झाग निकलना बन्द हो गया। उस समय उसको लगभग एक सौ दो डिग्री बुख़ार था। उसका शरीर आग की तरह जल रहा था। मैंने उसे उठाकर बैठाने के लिए प्रयत्न किया, तो लगा कि वास्तव में सारा शरीर ताप से जल रहा है।

स्वामी जी ने दो क्षण उस लड़के की ओर देखा, कहा, "चल उठ, उस पोखर में स्नान कर आ।"

हम सब हतप्रभ और सन्न-से थे। एक सौ दो डिग्री बुख़ार और ठंडे जल में स्नान का आदेश! आज स्वामी जी को हो क्या गया है?

विश्वनाथसिंह जी उठे और फिर मेरी सहायता से लड़के को पांवों पर खड़ा किया तथा उसके कपड़े उतार दिए। सिर्फ़ एक जांघिया पहने वह लड़का खड़ा रहा। फिर उसे वे स्वयं पोखर तक ले गए और स्नान करने के लिए कहा।

लड़का बुख़ार से दग्ध आधी बेहोशी की हालत में पानी में प्रवेश कर गया। हम सब कभी स्वामी जी की ओर देखते, तो कभी पोखर में घुसे उस लड़के को ताकते।

हम सब अपराध-बोध से घिरे हुए थे। बुख़ार का इतना वेग और फिर लगभग आधे घंटे से ठंडे पानी में वह बैठा है, निश्चित ही उसे सन्निपात हो जाएगा और मर जाएगा। फिर क्षय रोगी को ऐसा करना निश्चय ही मृत्यु को ही बुलाना है। हमारा मन रह-रहकर शंकित हो रहा था, परन्तु दूसरी तरफ़ आश्वस्त भी थे कि गुरुदेव ने ऐसा किया है तो कोई कारण होगा। यदि इसकी मृत्यु ही निश्चित है तो होगी ही।

मेरी नज़रें उसके पिता की ओर उठीं। मैंने देखा कि उसकी आंखों से अनवरत आंसू बह रहे हैं। वह अपने मन को धैर्य तो दे रहा होगा, परन्तु पुत्र की दारुण व्यथा और कष्ट को अनुभव कर अत्यधिक व्याकुल भी हो रहा होगा। तभी तो उसकी आंखों से आंसू प्रवाहित थे।

आधे घंटे बाद स्वामी जी उस लड़के को पोखर से बाहर निकल जाने के लिए कहा और फिर उसको कपड़े पहना दिए। जब वह कपड़े पहनकर स्वामी जी के सामने आया, तो उसे घर जाने के लिए कह दिया।

इसके तीसरे दिन विश्वनाथ जी पुनः उस लड़के को लेकर उपस्थित हुए। स्वामी जी तो उस समय कुटिया में थे। हमें यह सुनकर अत्यधिक आश्चर्य हुआ कि छः महीनों से जिसे बराबर बुख़ार आ रहा था, दो दिनों से उसे बुख़ार नहीं है और वह अपने-आप को पहले से ज़्यादा स्वस्थ अनुभव कर रहा था।

इस घटना के एक महीने बाद ही स्वामी जी से उसका मिलना हो पाया। जब तक वह लड़का काफ़ी संभल चुका था। वह युवक आज भी जीवित है और योगेन्द्रसिंह के नाम से पूरे टिहरी प्रदेश में जाना जाता है। एक मरणासन्न व्यक्ति, क्षय रोगी, आज इतना स्वस्थ और मज़बूत है कि देखकर विश्वास ही नहीं होता कि यही प्रौढ़ 21 साल की उम्र में मात्र 25 किलो वज़न का मरियल युवक था।

निमेष सिद्धि

स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी के पास एक संन्यासी कई वर्षों से थे। यद्यपि वे युवक ही थे, परन्तु उनमें स्वामी जी के प्रति अत्यधिक स्नेह और अपनत्व था। छाया की तरह स्वामी जी के साथ रहते और उनकी प्रत्येक आज्ञा का पालन करते थे।

लगभग तीन वर्षों तक स्वामी जी ने उन्हें परखा और फिर उनसे मेरे सामने ही एक साधना सम्पन्न कराई, जिसे 'निमिष साधना' कहते हैं। यह तीन दिन की साधना है और कमर-भर जल में खड़े रहकर यह साधना सम्पन्न की जाती है।

मैंने अनुभव किया कि जब उसे गुरु जी ने निमेष साधना दी और कहा कि इस मन्त्र का तुम्हें 11 घंटे तक पानी में खड़े रहकर निरन्तर जप करना है, तो उनकी आज्ञा मानकर तुरन्त सामने बहती हुई भागीरथी में कमर तक वे जल में खड़े हो गए और मन्त्र जप करने लगे — अनुक्त कल्प नेत्र वारुणं मुख वृतंच शिवं।

मन्त्र तो था ही, पर इससे भी ज़्यादा सम्भवतः गुरु जी की उस पर कृपा थी और तीन दिन में ही यह निमेष साधना सम्पन्न हो गई।

बाद में यही युवक संन्यासी योगत्वानन्द के नाम से पूरे भारतवर्ष में विख्यात हुए। मैं इस घटना के चालीस वर्ष बाद उनसे मिला था। तब उनका शरीर थोड़ा ढल गया था। मैंने देखा कि उनकी आंखों में कभी भी निमेष नहीं पड़ता था अर्थात पलक नहीं झपकती थी। इसके साथ ही वे बहुत दूर की वस्तुएं भी साफ़-साफ़ देख लेते थे। एक हज़ार मीटर दूर पेड़ पर चलते हुए कीड़े को भी

वे साफ़-साफ़ देख लेते थे। इस साधना से ही उन्हें यह वैशिष्ट्य प्राप्त हुआ था।

सोऽहं सिद्धि

एक बार हम सब उत्तर काशी में अलकनन्दा के किनारे बैठे हुए थे। उस समय मेरे अलावा तारकेश्वर बाबा, नागा बाबा, बंगाल के राम ठाकुर, मां योगिनी, सिद्धि माता तथा अन्य कई गुरु भाई-बहनें विद्यमान थे।

बातचीत कायाभेद पर चल पड़ी। उन्होंने कायाभेद को समझाते हुए कहा कि यह पंचतत्त्व से निर्मित काया, रोग का घर है। इसमें मल-मूत्र के अलावा और कुछ भी नहीं है। भर्तृहरि ने कहा है —

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता।
स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः॥
कालो न यातो वयमेव याताः।
तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥

"हम अनुभव करते हैं कि भोगों को भोग रहे हैं, परन्तु सही रूप में तो हम भोगों को नहीं भोगते वरन भोग ही हमें भोग लेते हैं। हम साधना या तपस्या नहीं कर पाते, अपितु वह ताप ही हमें जलाकर राख कर देता है, हम काल को व्यतीत करने का चिन्तन करते हैं; परन्तु काल स्वयं ही हमें समाप्त कर देता है। कई अर्थों में तो हम काया को अत्यधिक जीर्ण और रोगयुक्त बनाकर दुःख उठाते हैं।"

यह कायाभेद साधनात्मक दृष्टि से ही सम्भव हो सकता है, क्योंकि जिस प्रकार स्वर्ण अग्नि में तपकर कंचन बन जाता है, उसी प्रकार तपस्या की अग्नि में जल करके ही यह शरीर दिव्य और उदात्त बन सकता है। रोगरहित काया विशिष्ट साधना से ही सम्भव है। जिसे 'सोऽहं साधना' कहा जाता है।

इसके बाद उन्होंने रोगरहित 'सोऽहं मन्त्र' को विस्तार से समझाया और बताया कि यह गोपनीय मन्त्र अत्यधिक दुर्लभ कहा जाता है। इसे काली हृदय भी कहा गया है। इसके ऋषि महाकाल भैरव, छन्दज, विराट तथा सिद्धकाली देवता हैं। इसका बीज 'क्रीं' तथा शक्ति 'हीं' है। यह मन्त्र है—'ओऽम् हीं क्रीं मे स्वाहा'।

जो नित्य सिद्धकाली का ध्यान कर इस मन्त्र को सवा लाख बार सात

दिन जपेगा उसका सारा शरीर रोगरहित हो जाएगा। सिद्धकाली का ध्यान भी उन्होंने मुझे बताया था, जो कि मुझे आज भी स्मरण है —

खड्गादिअमलेन्दु बिम्ब सवदमृत-रसाप्लावितांगी त्रिनेत्रा
सव्ये पाण्मी कपालाद् गलदमृत मथौ मुक्त केशी पिवन्ती
दिग्वस्त्रा वद्ध-कांची मणिमय मुकुटाद्येर्युता दीप्त जिह्वा।
पायान्नोलात्पलामा रवि शशि-बिल-संत्कुंडलालीढ़ पादा।

यह साधना मैंने तो की ही, और मैंने अनुभव किया कि इसके बाद शरीर वस्तुतः कायाभेद युक्त हो जाता है। इस प्रकार से विशेष कवच से शरीर आबद्ध और सुरक्षित हो जाता है तथा किसी भी रोग का कोई प्रभाव व्याप्त नहीं हो पाता।

दिव्य देहानुरूपम्

उत्तर काशी में उन दिनों स्वामी जी लगभग आठ महीने रहे। गर्मियां आने पर वे गंगोत्री की ओर चले गए। वे पहले योगी रहे हैं जिन्होंने गंगोत्री, गोमुख से आगे तपोवनम और काकभुशुंडी से होते हुए बदरीनाथ गए हैं। मुझे भी उनके साथ तीन बार गंगोत्री-गोमुख से आगे, बर्फ़ पर होते हुए, बदरीनाथ जाने का अवसर मिला है। इस पूरी यात्रा में न तो किसी प्रकार का मार्ग रहा है और न पगडंडी ही।

मैं बात उत्तरकाशी की कर रहा था। उन्हीं दिनों एक तेजस्वी वृद्ध उनसे निरन्तर मिलने आया करते थे। एक सप्ताह बाद हमें पता चला कि वे वृद्ध स्वामी पागल बाबा हैं, जो अपने ही धुन में मस्त रहते हैं पूज्य गुरुदेव के शिष्य रहे हैं और कई अलौकेक सिद्धियां गुरुदेव से उन्होंने प्राप्त की हैं।

एक बार हम सब बैठे हुए थे तभी पगला बाबा आ गए। उन्होंने अत्यन्त श्रद्धा से गुरुदेव को प्रणाम किया। हमें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि पगला बाबा की लम्बी सफ़ेद दाढ़ी वक्षस्थल को छू रही थी, सिर के सारे बाल सफ़ेद थे, इसके विपरीत गुरुदेव के बाल काले थे और वे उनसे बहुत ही कम उम्र के लग रहे थे।

पगला बाबा प्रणाम कर एक तरफ़ जाकर बैठ गए। स्वामी जी ने हास्य के साथ पूछा, "पगले! कहां-कहां घूम आया?"

पगला बाबा खड़े हो गए, बोले, "बिना आपकी आज्ञा के तो यह शरीर हिल भी नहीं सकता। आपकी आज्ञा से ही यह शरीर विचरण करता रहता है।"

"फिर कल तू सिद्ध पर्वत पर क्या कर रहा था।"

बाबा एक क्षण के लिए सकुचा गए, कुछ बोले नहीं।

बाद में हमें मालूम पड़ा कि पगला बाबा ग्यारह वर्षों तक स्वामी जी के अत्यधिक निकट रहे हैं और अपने में ही मगन रहने के कारण स्वामी जी ने ही उसका नाम पगला बाबा रखा है। स्वामी जी की ही कृपा से उन्होंने लोकान्तर साधना भी सम्पन्न की है और सफलता प्राप्त की है, जिससे वे आकाश मार्ग से हिमालयस्थ दिव्याश्रमों की यात्रा कर पाते हैं, वे जहां भी जाना चाहते हैं, सशरीर चले जाते हैं और वहां जितने समय तक रुकना चाहें, रुक जाते हैं। उन्हें सर्दी, गर्मी, वर्षा का कोई प्रभाव व्याप्त नहीं होता।

हम ऐसे विलक्षण साधनासम्पन्न व्यक्तित्व को छोड़ना नहीं चाहते थे। बाहर से तो यह व्यक्तित्व बहुत सीधा-सादा सरल दिखाई देता है। ऐसा अनुभव ही नहीं होता कि इसके पास किसी प्रकार की कोई साधना या सिद्धि होगी, पर ज्यों-ज्यों हम उसके सम्पर्क में आए त्यों-त्यों उनके साधना रहस्यों को समझा और अनुभव किया कि वे उच्चकोटि के योगी हैं। पूज्य गुरुदेव की उन पर असीम कृपा रही है। बाद में पगला बाबा सिद्धाश्रम के योगी बन सके।

हमने कुछ दिनों बाद पगला बाबा की उपस्थिति में ही लोकान्तर साधना की चर्चा चलाई, तो गुरुदेव ने बताया कि यह साधना काफ़ी कठिन है। पहले शाम्भवी दीक्षा प्राप्त की जाती है और इसके बाद तीन वर्षों तक गुरु का साहचर्य प्राप्त करने के बाद ही यह साधना प्राप्त की जा सकती है। इस साधना में पहले अपनी देह को पूर्णतः सिद्ध एवं पारदर्शी बनाया जाता है। ऐसा होने पर आकाश मार्ग से हिमालयस्थ दिव्य आश्रमों की यात्रा करने में सफल हुआ जा सकता है।

स्वामी जी ने इसे यथासम्भव गोपनीय ही रहने दिया, परन्तु फिर भी उन्होंने बताया कि लोकान्तर साधना में कुंडलिनी जागरण और मातृका तन्त्र से त्रिपुरसिद्धा सिद्ध की जाती है, तत्पश्चात ही वह वायुमार्ग से गतिशील हो पाता है।

हमारी जिज्ञासा भाव देखकर पूज्य गुरुदेव ने पगला बाबा से ही अपने शरीर को पारदर्शी बनाकर दिखाने के लिए कहा, और हमने देखा कि उन्होंने

नेत्र बन्द कर कुंडलिनी को कपालस्थ कर पूरे शरीर को पारदर्शी बना दिया, हम उनके आर-पार साफ़-साफ़ देख रहे थे। उनके सीने की तरफ़ देखने पर अन्दर के सारे चक्र साफ़-साफ़ दिखाई दे रहे थे।

कुछ ही क्षणों में वे वायु-तुल्य हो गए और उनका शरीर संकुचित होने लगा। धीरे-धीरे वे ऊपर उठे और जिस प्रकार कुछ ही सेकंडों में राकेट अदृश्य हो जाते हैं, उसी प्रकार से उनका शरीर भी अदृश्य हो गया। ऐसा लगा कि जैसे वे सशरीर बहुत दूर चले गए हों।

इतना होने पर भी उनकी आवाज़ कानों में साफ़-साफ़ सुनाई पड़ रही थी। वे कहते जा रहे थे — मैं इस समय पृथ्वी से लगभग तीन मील ऊपर उड़ रहा हूं। मेरे नीचे गंगोत्री बह रही है, इस समय मैं गोमुख के ऊपर हूं। अब मैं गोमुख पर नीचे उतर रहा हूं और उसका जल अपनी अंजुली में भर रहा हूं। कुछ ही क्षणों बाद वे हमें पुनः आकाश मार्ग से उतरते हुए दिखाई दिए। उनका सारा शरीर और वस्त्र पानी से भीगा हुआ था। कुछ ही क्षणों के बाद वे सशरीर हमारे सामने ही आकर पृथ्वी पर खड़े हो गए। उनके दोनों हाथों की अंजुली में जल भरा हुआ था।

वह आगे बढ़कर अंजुली में भरा हुआ गोमुख का पवित्र जल पूज्य गुरुदेव के चरणों में डालकर अपने-आप को कृतकृत्य अनुभव करने लगे।

कुछ ही क्षणों में उनका पारदर्शी शरीर हमारी तरह ही सामान्य शरीर बन गया।

बाद में पूज्य गुरुदेव ने अत्यधिक कृपा कर यही लोकान्तर साधना मुझे सम्पन्न कराई और उनकी कृपा से ही मैं हिमालय के एक-एक कण को और स्थल को देख सका।

दिव्य दर्शन

एक बार कलकत्ता से प्रकाशित महोत्सव पत्रिका के सम्पादक स्वामी योग किंकर जी पधारे थे, उनका विचार गुरुदेव का इंटरव्यू लेना था। इन दिनों हम सब नैनीताल से आगे रानीखेत में ठहरे हुए थे। गुरुदेव का विचार यहां से मानसरोवर जाने का था, इससे पूर्व वे यहां के रमणीय स्थल को देखकर कुछ दिनों के लिए यहीं रुक गए थे।

बातचीत के प्रसंग में गुरुदेव ने बताया कि अपने इष्ट का ध्यान तब तक सम्भव ही नहीं है, जब तक कि हम इष्ट के साक्षात दर्शन न कर लें।

मैंने कहा, "यह कैसे सम्भव है? सामान्य जन तो अपने इष्ट का ध्यान वेदोक्त या पुराणों के आधार पर ही करते हैं। उनमें इतनी शक्ति या सामर्थ्य तो होती नहीं कि वे इष्ट को साक्षात देख सकें।"

गुरुदेव ने जवाब दिया, "ऐसा सम्भव है, इसके लिए युद्ध की नितान्त आवश्यकता होती है। गुरु अपने शिष्य को वीर्य प्रदत्त मन्त्र देता है और ऐसे उपायुक्त मन्त्र से इष्ट का दर्शन सहज सम्भव है।"

मेरे लिए 'वीर्य प्रदत्त मन्त्र' शब्द सर्वथा नया था। गुरु अपने शिष्य को मन्त्र तो देता है, परन्तु यह वीर्य प्रदत्त मन्त्र किस प्रकार सम्भव है?

स्वामी जी ने धैर्यपूर्वक इस शब्द की व्याख्या करते हुए बताया कि उपनिषदों में 'वीर्य सम्पन्न मन्त्र' और 'वीर्य प्रदत्त मन्त्र' का कई बार उल्लेख आया है। लकड़ी में या काष्ठ में अग्नि होती है, परन्तु बाहर से वह अग्नि दिखाई नहीं देती। जब काष्ठ से घर्षण होता है, तब उसमें से चिनगारी प्रकट होती है, जो कि प्रकाशवान कही जाती है। ठीक उसी प्रकार तेजस्वी वीर्य प्रदत्त मन्त्र का स्वयं के चित्त से घर्षण आवश्यक है, और इस घर्षण से देवता रूप अभिव्यक्त होता है और इष्ट के प्रत्यक्ष दर्शन चित्त में हो जाते हैं।

उन्होंने आगे समझाते हुए कहा, "किसी भी वस्तु का चित्त पर अंकन देखे हुए पदार्थ का ही हो सकता है। यदि हमने ताजमहल देखा है तो अवश्य ही उसका अंकन चित्त पर हो सकता है, मगर जिसे जीवन में देखा ही न हो उसका अंकन सम्भव नहीं है। इसलिए गुरु के द्वारा ही वीर्य प्रदत्त मन्त्र प्राप्त कर, इष्ट के दर्शन कर लेने चाहिए और फिर यदि उसका ध्यान किया जाता है, तो वह प्रामाणिक ध्यान कहा जाता है।"

मैंने वीर्य सम्पन्न मन्त्र के बारे में जिज्ञासा की, तो उन्होंने कहा कि यह गुरु ही बता सकता है और दे सकता है। यदि गुरु समर्थ है, तो वह अपने प्राणों के मन्थन से उत्पन्न मन्त्र को वीर्य प्रदत्त मन्त्र बनाकर शिष्य को प्रदान करता है और उसके निरन्तर जप से चित्त में घर्षण होकर इष्ट के साक्षात दर्शन सम्भव हो जाते हैं।

आगे चलकर जब पूज्य गुरुदेव से शाम्भवी दीक्षा प्राप्त की, तो उन्होंने अपने ही प्रबल वेग से वीर्य प्रदत्त मन्त्र का प्रदान किया और उसके बाद तो हमारा मन अपने-आप में ही रम गया। तब मुझे अनुभव हुआ कि योगी अपने ही ख्यालों में क्यों खोया रहता है और इतना प्रसन्नचित्त बना रहता है। इसका कारण यह है कि उसकी आंखों के सामने प्रतिक्षण इष्ट साकार रहते हैं और उसके दर्शन से वह निरन्तर पुलकित होता रहता है। एक अजीब-सी मस्ती और खुमारी में खोया रहता है।

शिवरात्रि : शिवार्चन

उन दिनो स्वामी जी पूरे हिमालय को भली प्रकार से देख लेना चाहते थे। जहां भी उनका मन रमता, कुछ समय के लिए वहां रुक जाते थे। इसी प्रकार हम लगभग पन्द्रह-बीस शिष्य पूज्य गुरुदेव के साथ कौसानी रुके हुए थे। यह स्थान प्रकृति की दृष्टि से हिमालय का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। चारों तरफ़ उन्मुक्त भाव से प्रकृति खिली हुई दिखाई देती है। यहां से सूर्योदय का दृश्य इतना अधिक सुन्दर और अद्वितीय होता है कि उसको शब्दों में बांधना सम्भव ही नहीं है। जब प्रातःकालीन सूर्य की किरणें चारों तरफ़ बिछी हुई बर्फ़ पर गिरती हैं, तो सैकड़ों-सैकड़ों रंग चारों ओर बिखर जाते हैं। ऐसा लगता है कि जैसे विविध रंगों का गलीचा पूरी ज़मीन पर बिछा दिया हो।

उन्हीं दिनों शिवरात्रि पड़ी और हम सबने शिवरात्रि को भली प्रकार से मनाने का निश्चय किया।

रात्रि को कौसानी में ही पूज्य गुरुदेव के साथ हम सभी शिष्य तपोवन आश्रम में बैठे हुए थे। यह आश्रम अत्यधिक रमणीय है। यहां एक स्वामी जी रहते थे, जिनका नाम तपोवनी महाराज था। कुछ वर्षों पूर्व उन्होंने सुदूर हिमालय में समाधि ले ली थी, तब से उस आश्रम में उनके शिष्यगण ही रहते थे।

रात्रि को जब हमने शिव-पूजन की पूरी तैयारी की और पहले शिव-पूजन सम्पन्न कर दुग्ध-धारा से रुद्राभिषेक प्रारम्भ किया, तो गुरुदेव ने कहा कि बिना तत्त्वमसि क्रिया के रुद्राष्टाध्यायी पाठ व्यर्थ है। उन्होंने कहा कि भगवान शिव प्रसन्न और प्रत्यक्ष होते हैं, जब तत्त्वमसि पाठ एवं क्रिया सम्पन्न की जाए।

हम सभी के लिए तत्त्वमसि पाठ, मन्त्र या क्रिया शब्द नया था। अब इतना

समय भी नहीं था कि पूज्य गुरुदेव से इसको समझा जाए। मैंने निवेदन किया, "आप थोड़ा खुलासा करें कि तत्वमसि क्रिया, तत्त्वमसि मन्त्र और तत्वमसि प्रयोग क्या और किस प्रकार से सम्पन्न होता है?"

स्वामी जी ने जवाब दिया, "मैं तो स्वयं आप लोगों के साथ शिवार्चन में संलग्न हूं और इस क्रिया को समझाने में लगभग चार-छः घंटे तो आवश्यक हैं। यदि इस समय समझाया जाए तो शिवरात्रि का पर्व व्यतीत हो जाएगा।"

वे फिर बोले, "एक उपाय हो सकता है, हम महर्षि वशिष्ठ को ही बुला लें। वे स्वयं तत्त्वमसि क्रिया युक्त शिवार्चन सम्पन्न करवा देंगे।"

यह दूसरा आश्चर्य था। क्या ऐसा सम्भव हो सकता है! क्या वशिष्ठ जैसे ब्रह्मर्षि आकर पूरे विधि-विधान के साथ तत्त्वमसि क्रियायुक्त शिवार्चन सम्पन्न करवा सकते हैं? और यदि ऐसा हो सकता है तो फिर हमसे ज़्यादा सौभाग्यशाली पृथ्वी पर और कौन होगा? वशिष्ठ तो ब्रह्मा के पुत्र सम्पूर्ण ऋषियों के गुरु एवं पुरोहित कहे जाते हैं। शास्त्रों में वर्णित है कि शिव का पूर्ण पूजन मात्र वशिष्ठ ही जानते हैं, क्योंकि शिव का पूजन सामान्य नहीं, अपितु अत्यधिक जटिल और कठिन है।

हम सब बैठे हुए थे। हमारी दाहिनी ओर व्याघ्रचर्म पर पूज्य गुरुदेव शिव-पूजन में संलग्न थे। मध्य में भगवान शिव का लिंग स्थापित था और सारी पूजा की सामग्री वतुर्दिक रखी हुई थी।

थोड़ी ही देर में पूज्य गुरुदेव ने वशिष्ठ का ध्यान सम्पन्न किया और लगभग पांच या सात मिनट बीते होंगे कि गुरुदेव के सामने ही दूसरी ओर एक अत्यन्त तेजस्वी दिव्य महर्षि आकाश मार्ग से उतरते हुए और वहां बैठते हुए दिखाई दिए। उनके चेहरे से सात्त्विकता और तेजस्विता अनुभव हो रही थी। वास्तव में ही पुराणों में वर्णित वशिष्ठ ऋषि साकार रूप में हमारे सामने विद्यमान थे।

उन्होंने पूर्ण क्षमता के साथ तत्त्वमसि क्रिया युक्त शिवार्चन सम्पन्न करवाया। लगभग आठ घंटे तक उन्होंने जिस प्रकार से पूजन सम्पन्न करवाया वह अपने-आप में अद्वितीय है। उनकी तो कोई तुलना ही नहीं हो सकेगी। हम सब शिष्यों ने पहली बार तत्त्वमसि क्रिया अनुभव की। पहली बार इस ज्ञान को सीखा और पहली बार उस विशिष्ट चिन्तन को हृदयस्थ किया, जो कि शिव-पूजन का अत्यधिक विशिष्ट पर्व है।

और हमारी प्रसन्नता का तब कोई ठिकाना नहीं रहा, जब चतुर्थ प्रहर में शिवलिंग के स्थान पर साक्षात भगवान शंकर बैठे हुए दिखाई दिए। लम्बी और बिखरी हुई जटाएं, जटाओं में से प्रवाहित होती हुई गंगा, गले में सर्प और भस्मी युक्त दिव्य तेजस्वी शरीर, वस्तुतः अनुपम छटा थी, अद्वितीय दृश्य था, अलौकिक वातावरण था।

पूर्णाहुति के बाद भगवान शिव अदृश्य हो गए। उनके साथ-ही-साथ जिस तरीके से शून्य मार्ग से महर्षि वशिष्ठ को आते हुए देखा, उसी प्रकार से जाते हुए भी अनुभव किया। इधर भगवान सूर्य की किरणें हमें स्पर्श कर रही थीं और उधर गुरुदेव मन्द-मन्द मुस्कुरा रहे थे। उनके चेहरे पर पूर्ण सन्तुष्टि के भाव थे।

आगे चल करके तो इसी क्रिया पद्धति के द्वारा मैंने लगभग सभी देवी-देवताओं के दर्शन किए, सभी देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना, अभ्यर्थना की और अपने जीवन में इन चक्षुओं से उन देवताओं के भी दर्शन किए, जो अगम-अगोचर कहे जाते हैं।

परकाया प्रवेश

उस दिन हम संन्यासियों को परकाया प्रवेश का व्यावहारिक ज्ञान देने का कार्यक्रम था। हम सब केदारनाथ मन्दिर से आगे ब्रह्मताल पर बैठे हुए थे। पिछले एक महीने से वहां शिविर-सा लग रहा था और पूज्य गुरुदेव हमें कुछ उ लौकिक विषयों को समझा रहे थे।

उस दिन एक मरे हुए हिरण की हड्डियों को एकत्र करके रखा गया और पहले 'संजीवनी क्रिया' से उन हड्डियों को परस्पर जोड़कर सही आकार दिया और फिर 'आत्म साधना मन्त्र' द्वारा मरे हुए हिरण पर चमड़ी व्याप्त हो गई। अब परकाया प्रवेश का ज्ञान देना बाक़ी था। यों तो इस सम्बन्ध में गुरुदेव हमें काफ़ी कुछ बता चुके थे, पर आज वे अपने शिष्य ज्ञानदेव द्वारा परकाया प्रवेश का व्यावहारिक ज्ञान बता रहे थे।

सामने मरा हुआ हिरण पड़ा था। हम सब तीस-बत्तीस शिष्य-शिष्याएं बैठे हुए थे। एक तरफ़ भाई ज्ञानदेव गुरु-चरणों के समीप बैठे थे। सर्वप्रथम ज्ञानदेव ने समाधि लगाकर अपनी श्वास को आज्ञा चक्र पर केन्द्रित किया। हमने देखा कि ज्ञानदेव निश्चल हो गए हैं। उधर सोए हुए हिरण में स्पन्दन हुआ और धीरे-धीरे उसने अपनी आंखें खोलीं और हम सबको देखकर उठ खड़ा हुआ और फिर एक तरफ़ भाग गया।

गुरुदेव ने बताया कि अब ज्ञानदेव में केवल प्राण ऊर्जा बाक़ी है, अन्यथा सारा शरीर मृतवत है। प्राण ऊर्जा की वजह से यह शरीर एक साल-भर तक भी ख़राब नहीं होगा। हमने उनके शरीर को छूकर देखा, तो वह धीरे-धीरे ठंडा हो रहा था। नाड़ी का स्पन्दन और हृदय की धड़कन बन्द थी।

हम इसी प्रकार तीन-चार घंटे बैठे रहे। फिर वह हिरण टहलता हुआ वापस उसी स्थान पर आया और पूज्य गुरुदेव के सामने लेट गया। दो मिनट बाद ही हिरण निश्चेष्ट हो गया, और पुनः ज्ञानदेव चैतन्य हो गए। कुछ ही क्षणों में समाधि टूटी और अब हमारे सामने ज्ञानदेव पूर्णतः चैतन्य अवस्था में विद्यमान थे।

इसके बाद गुरुदेव ने इसकी सारी क्रिया पद्धति और मन्त्र विधि समझाई कि किस प्रकार से प्राण स्पन्दन छोड़कर प्राणों को तिरोहित किया जा सकता है और किस प्रकार से पुनः प्राण आह्वाहित कर चैतन्य हो सकते हैं।

मृत्युंजयी योगी

गुरु पूर्णिमा का दिन वाराणसी का प्रसिद्ध दशाश्वमेध घाट। जगह-जगह चिताएं जल रही हैं, चड़ड़-चड़ड़ की आवाज़ के साथ मृत मानवों के चर्म, मांस-मज्जा जलकर वातावरण को एक अजीब गन्ध से भर देते हैं। घाट के किनारे ही डोम का घर, और उसके पास ही छोटी-सी बग़ीची — जहां से पूरा श्मशान घाट और जलती हुई चिताएं साफ़-साफ़ दिखाई दे रही हैं।

पिछले दो महीनों से मैं हिडिम्बा साधना कर रहा था। मेरे साथ थे योगी निखिलेश्वरानन्द, फक्कड़, मस्त, निर्द्वन्द्व, निस्पृह, कोई माया-मोह-ममता नहीं, न काया की चिन्ता और न माया की परवाह, अद्भुत व्यक्तित्व से सम्पन्न, पैरों में खड़ाऊं, कटि पर धोती, शरीर का ऊपरी भाग अनावृत, कोई वस्त्र नहीं। लम्बी जटाएं, देदीप्यमान चेहरा, दिप-दिप करती हुई ज्वलित आंखें। कुल मिलाकर पूरा व्यक्तित्व एक अपूर्व, चुम्बकीय शक्ति से आवृत, पर यह फक्कड़ व्यक्तित्व अकेला, एकान्त प्रिय, साधना में लीन, तल्लीन, कठोर-से-कठोर साधना करने को तैयार, पिछले कुछ महीनों से अघोर साधना में रत था। श्मशान साधना, चिता साधना, शव साधना, अघोरियों के बीच साधना में रत, कोई हिचकिचाहट नहीं। मैं दो महीनों से साथ था, पर उदासीन, निस्पृह, निर्मोही। कभी सम्भव हुआ तो दो-चार मिनट बोल लिया, कभी वह भी नहीं। मैं जितना ही ज़्यादा इस व्यक्तित्व को समझने की कोशिश करता, उतना ही उलझता जाता।

दशाश्वमेध घाट पर आए छः दिन हो गए थे, आज सातवां दिन था। सारी रात श्मशान में साधनारत। यहीं अघोरी पाशुपतनाथ से भेंट होनी थी, ऐसी सम्भावना थी, ऐसा ही आभास हुआ था।

इन दिनों स्वामी निखिलेश्वरानन्द कृत्या साधना में रत थे। कठिन कठोर साधना, ज़रा भी चूक हुई तो प्राण समाप्त। भगवान शंकर की कृत्या को रिझाना, अनुकूल करना क्या कोई मामूली साधना हो सकती है?

तभी उस सांझ के धुंधलके में श्मशान घाट की तरफ़ से एक अघोरी आता हुआ दिखाई दिया। पास आने पर उसे साफ़-साफ़ देखा जाना सम्भव हो सका, मैला, गन्दा, लम्बी उलझी हुई जटाएं, चेहरा गन्दला-सा, धंसी हुई पीली आंखें, हाथ में एक खप्पर, लम्बे-लम्बे मैले गन्दगी से भरे नाख़ून और सारा शरीर बदबू से भरा, देखकर घिन आ रही थी। हवा के साथ-साथ बदबू का झोंका सारे सिर को झनझना देता। ऐसी बदबू तो जलते हुए मुरदे से भी नहीं आ रही थी। गन्दगी का साक्षात जीवन्त रूप।

वह आकर बैठ गया, हाथ में खप्पर, खप्पर में कुछ खाद्य पदार्थ-सा, हाथों में पीप-सी निकल रही थी और वह उन्हीं हाथों से खाद्य पदार्थ लेकर मुंह में डालता — उफ़!

बोला, स्वामी! ले भूख लगी तो आ, खा ले। संकेत निखिलेश्वरानन्द की तरफ़ था।

निखिलेश्वरानन्द जी उठे और उस अघोरी से सटकर बैठ गए। अघोरी ने उन पीप भरे हाथों से लड्डू का छोटा-सा टुकड़ा खप्पर से निकाला और आगे बढ़ाया। निखिलेश्वरानन्द ने लड्डू को अपने हाथों में ले लिया — उफ़, गन्दा, घृणित, दुर्गन्धपूर्ण!

पर यह क्या? दूसरे ही क्षण सामने पीप-भरा अघोरी अदृश्य था, और खड़े थे, साक्षात शंकर भगवान विश्वनाथ और निखिलेश्वरानन्द उनके चरणों के पास बैठे थे। उनके सिर पर था, काशी के बाबा विश्वनाथ का वरद हस्त।

और अगले ही क्षण बाबा विश्वनाथ अदृश्य थे, और निखिलेश्वरानन्द जी की समाधि लगी हुई थी।

गुरु मन्त्र

काफ़ी समय तक हम कौसानी रहे, वहां से एक दिन रवाना होते समय गुरुदेव ने कहा, "आज मैं अपने एक शिष्य से तुम लोगों की भेंट करवा रहा हूं। उससे मिलकर तुम्हें प्रसन्नता होगी।"

कौसानी से बदरीनाथ का सीधा रास्ता है, परन्तु उस समय बीच में पहाड़ और बर्फ़ थे, किसी प्रकार की पगडंडी या रास्ता नहीं था।

कौसानी से लगभग बारह दिन बाद हम तोरा गांव पहुंचे, यह गांव प्रकृति के बीचोंबीच अत्यधिक भव्य और आनन्दयुक्त है। ऐसा लगता है जैसे विश्व की प्रकृति यहां सिमटकर आ गई हो।

गांव के बाहर एक छोटा-सा पक्का आश्रम था, जिसे गांव वालों ने बना दिया था। आश्रम तो क्या था, दो पक्के कमरे और एक झोंपड़ा था। मार्ग में ही गुरुदेव ने बता दिया था कि यहीं पर एक मेरा शिष्य ज्ञानानन्द रहता है, जो उच्च कोटि की साधनाएं सम्पन्न करने के बजाय गुरु साधना में ही लीन है। उसके पास आज जो भी सिद्धियां हैं, वह गुरु साधना के द्वारा ही प्राप्त हुई हैं।

गांव के बाहर ही स्वामी जी रुक गए और हमें कहा, "आज की रात तुम यहीं विश्राम करो। मैं किसी कार्य से अन्यत्र जा रहा हूं। कल ज्ञानानन्द के आश्रम में ही तुम लोगों से मिलूंगा, परन्तु मेरे आने की बात उसे मत बताना।"

हम सभी जब आश्रम में पहुंचे, तो देखा लगभग पचास वर्ष का दुबला-पतला एक व्यक्ति झोंपड़ी के बाहर बैठा हुआ है और अपनी फटी हुई धोती सी रहा है। हम सबको देखकर वह उठ खड़ा हुआ और जब हमने अपना परिचय दिया कि हम सब पूज्य गुरुदेव निखिलेश्वरानन्द जी के शिष्य हैं, तो उसकी आंखों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी।

आश्रम में ही एक कुआं था। कुएं से जल निकालकर उसने हमें पिलाया। हमने देखा कि आश्रम में मिट्टी के ही दो-तीन गिलास हैं। वह संकोच में पड़ गया, पर हमने दोनों हाथों से अंजुरी बनाकर जल पी लिया।

तब तक हम पूरे आश्रम में घूम चुके थे। हमने देखा कि वे दोनों पक्के पत्थर के बने हुए कमरे ख़ाली पड़े हैं। शायद कई महीनों से उसमें कोई गया ही नहीं था। हमने ज्ञानानन्द जी को पूछा तो उन्होंने कहा, "इस झोंपड़ी से मेरा काम चल जाता है, फिर मैं उन कमरों में जाकर क्या करूंगा?"

हमने कौतूहलवश झोंपड़ी के अन्दर घुसकर देखा, तो उसमें कुछ भी नहीं था। पूज्य गुरुदेव का एक चित्र लगा हुआ था और उसके सामने एक पुस्तक पड़ी हुई थी।

बहन शर्मिष्ठा ने उनकी दीनता देखकर अपने झोले में से नई धोती निकाल कर उनके सामने रखी, क्योंकि उसने आते ही देख लिया था कि वह छोटा-सा गमछा पहने हुए बैठे हैं, और अपनी धोती को सी रहे हैं। हम सबने यह भी देखा कि धोती पर लगभग तीस-चालीस पैबन्द लगे हुए थे।

नई धोती को देखकर ज्ञानानन्द ने वापस लौटा दी और कहा, "इस धोती से मेरा काम चल रहा है, फिर नई धोती को लेकर क्या करूं? मुझे इसकी आवश्यकता नहीं है।"

उसी दिन शाम को चर्चा काली पर चल पड़ी। ज्ञानानन्द ने कहा, "सभी महाविद्याएं सही हैं, परन्तु उनका मन्त्र जप करना या उन्हें सिद्ध करना जरूरी क्यों है? जब हमारे पास गुरु मन्त्र है, फिर दूसरे देवी-देवताओं को सिद्ध करने से क्या हो जाएगा?"

बाद में हमें मालूम पड़ा कि ज्ञानानन्द को भगवान शंकर ने प्रत्यक्ष दर्शन दिए थे और पूछा था, "तेरी जो इच्छा हो तू मांग सकता है।" ज्ञानानन्द ने हाथ जोड़कर कहा, "आप अपने-आप को शंकर कह रहे हैं, तो अवश्य होंगे ही। आप मेरी कुटिया पर पधारे हैं, यह मेरा सौभाग्य है, पर न तो मैं आपसे परिचित हूं और न परिचित होने की आवश्यकता अनुभव कर रहा हूं। मेरी झोंपड़ी में गुरुदेव का चित्र है और यदि कुछ आवश्यकता होगी तो उनसे ही मांग लूंगा।"

उसकी गुरु के प्रति इतनी अनन्य भक्ति देखकर भगवान शंकर ने आशीर्वाद दिया था कि "मैं अप्रत्यक्ष रूप से यहां पर प्रति क्षण विद्यमान रहूंगा और किसी प्रकार का तुम्हें कोई अभाव नहीं रहेगा।"

इसका प्रमाण भी हमें हाथोहाथ मिल गया। पन्द्रह मिनट पहले ही हमने झोंपड़ी में घुसकर देखा था कि उसमें गुरु-चित्र और पुस्तक के अलावा कुछ भी नहीं था, परन्तु लगभग पन्द्रह-बीस मिनट बाद ही जब शर्मिष्ठा अन्दर गई, तो देखा कि ठंडे जल से भरे हुए दो कलश रखे हुए हैं और एक ही पंक्ति में चांदी के बयालीस गिलास भी रखे हैं। मैंने गिना तो हम सब गुरु भाई बयालीस ही थे।

यही नहीं, अपितु उत्तम खाद्य पदार्थ तथा व्यंजन झोंपड़ी में न मालूम कहां से आ गए थे। शर्मिष्ठा ने मुझे आवाज़ दी, तो हम पांच-छः गुरु भाई झोंपड़ी में घुसे। देखा कि मधुर और स्वादिष्ट हलवा कढ़ाई में रखा हुआ है, और उसमें से सुगन्ध और भाप निकल रही है। इसके साथ-ही-साथ पूड़ियां, दो-तीन प्रकार

की सब्ज़ियां और अन्य कई प्रकार के व्यंजन रखे हुए थे।

मैंने बाहर आकर देखा, तो ज्ञानानन्द जी उसी प्रकार से अपनी फटी हुई धोती सी रहे थे। उन्हें इसका कुछ पता ही नहीं था कि अन्दर क्या घटना घट गई है।

मेरे अन्य गुरु भाइयों की मदद से वह सारी खाद्य सामग्री झोंपड़ी के बाहर लाए। झोंपड़ी के एक कोने में थालियां और कटोरियां भी रखी हुई थीं। हम सबने छककर भोजन किया। जब हमने ज्ञानानन्द जी को भोजन के लिए कहा तो उन्होंने कहा, "सुबह मैंने कुछ चबेना चबा लिया था, अब तो आवश्यकता नहीं है।"

दूसरे दिन जब गुरुदेव पधारे, तो ज्ञानानन्द के हर्ष का ठिकाना नहीं था। उसने भाव-विह्वल शब्दों में बिलखते हुए कहा, "जब आप कल ही आ गए थे, तो फिर इन चौबीस घंटों तक मुझे क्यों तरसाए रखा," और उनके सीने से लगकर वह इस प्रकार से हुमक-हुमककर रो रहे थे जैसे कि कोई बालक काफ़ी समय से बिछुड़ी हुई मां को देखकर रोता है।

शाम को गुरुदेव ने ज्ञानानन्द से सहास्य कहा, "ज्ञानानन्द, तुम्हें आकाश गमन सिद्धि सिखाते हैं।"

ज्ञानानन्द ने खड़े होकर हाथ जोड़कर उत्तर दिया, "जब गुरु-मन्त्र मेरे पास है, तो फिर आप अन्य मन्त्र क्यों दे रहे हैं? क्या उस मन्त्र या गुरु साधना से भी कोई उच्च साधना इस विश्व में है?"

गुरुदेव निरुत्तर हो गए। हम लगभग तीन-चार दिन वहां रहे और इन तीन-चार दिनों में हमने देखा कि हम जिस वस्तु या पदार्थ की इच्छा करते थे, वह पदार्थ झोंपड़ी में स्वतः मिल जाता है। ऐसा लगता था जैसे किसी कल्पवृक्ष के नीचे वह झोंपड़ी बनी हुई हो।

अत्यन्त सामान्य और सरल जीवन बिताने वाले स्वामी ज्ञानानन्द ने केवल गुरु-मन्त्र के सहारे ही अट्ठारहों प्रकार की सिद्धियां प्राप्त कर ली थीं और यह पहला उदाहरण है कि केवल गुरु मन्त्र के सहारे ही स्वामी ज्ञानानन्द सिद्धाश्रम में पहुंच गए थे और आज वे उसके श्रेष्ठ योगियों में से एक हैं।

एक दिन जब हम हरिद्वार से एक किलोमीटर दूर गंगा के किनारे बैठे हुए थे कि तभी एक नंग-धड़ंग साधु आता हुआ दिखाई दिया। वह गंगा में पानी पर चलता हुआ उस पार पहुंच गया। और कुछ ही समय बाद वह वापस पानी पर से होता हुआ आया और जहां हम बैठे हुए थे, वहीं पर आकर खड़ा हो गया। मैंने उसके पांवों की ओर गौर से देखा, तो पैरों के तलवों में पानी अवश्य लगा था, परन्तु पैर भीगे हुए नहीं थे। इसका मतलब यह कि इसने जलगमन प्रक्रिया सिद्ध कर रखी है, जिसकी वजह से वह पानी पर चलकर आ-जा सकता है।

वह लगभग दस-बारह दिन हमारे साथ रहा। इस बीच चर्चा चलने पर उसने जलगमन प्रक्रिया के बारे में हमें समझाया कि कंकाल मालिनी तन्त्र के माध्यम से जल गमन प्रक्रिया में सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। उसने इसका प्रमाण देते हुए कुछ पंक्तियां उच्चारित की थीं, जो कि इस प्रकार हैं —

सुभगे! शृणु मे मातः! कृपया कथयामि ते।
प्रथमे डाकिनी बीजं युवती षोडशाक्षरं॥
अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं लृं लॄं एं ऐं ओं औं अं अः।
डाकिनी देव-देवस्यं ईरितं बीजमुत्तमं॥
आधन्त-पुटितं कृत्वा मन्त्रं लक्षं जपेद्यदि।
तदा सिद्धी वरारोहे नान्यथा वचनं मम॥

कंकाल मालिनी तन्त्र में शाकिनी बीज देकर काकिनी को समुटित किया जाए, तो निश्चय ही जलगमन प्रक्रिया सिद्ध हो जाती है और कोई भी व्यक्ति पानी पर उसी प्रकार चल सकता है जिस प्रकार हम सड़क पर चलते हैं।

उसके जाने के बाद पूज्य गुरुदेव ने कहा, "यह साधक तो अच्छे स्तर का है, पर जीवन-मुक्त नहीं है। जीवन-मुक्त होने पर ही जीवन में परिपूर्णता आ पाती है।"

मैंने जिज्ञासा प्रकट की, "जीवन-मुक्त कैसे हो सकते हैं?" तब पूज्य गुरुदेव ने इसकी विस्तार से व्याख्या की, तब जाकर इसका रहस्य मेरी समझ में आया।

उनके अनुसार मनुष्य स्वयं ब्रह्म है और प्रकृति के साहचर्य में आकर ही वह शक्तिमय बनता है। शक्तिमय हो जाने पर ही वह प्रकृति से मुक्त होकर

चिदानन्द स्वरूप में प्रवेश करता है।

ऐसी स्थिति में भी व्यक्ति की दो अवस्थाएं बन जाती हैं — एक तो वह प्रकृति से अपने-आप को सर्वथा मुक्त कर लेता है और दूसरे प्रकृति को अपने में आत्मसात कर उसे अपनी सहचरी बना लेता है। एक प्रकार से देखा जाए तो वह उससे अभिन्न बन जाता है।

उसकी मुक्ति तब तक सम्भव नहीं है, जब तक वह प्रकृति या शक्ति से पूर्णतः सम्बन्धित न हो जाए। व्यक्ति गृहस्थी या संसार छोड़कर मुक्त तो हो सकता है, परन्तु फिर भी प्रकृति के आकर्षण से अलग नहीं हो पाता। एक प्रकार से देखा जाए, तो यह आकर्षण उसके ऊपर हावी हो जाता है और इसकी वजह से ही साधक या योगी को पुनः जन्म लेना पड़ता है। यह नंग-धड़ंग साधु ज्ञानी है और कुछ विशिष्ट साधनाओं में सिद्ध भी है, परन्तु इसके जीवन में दम्भ के साथ-साथ जीवनबद्धता भी है और यह जीवनबद्धता ही इसके लिए बाधक है। एक प्रकार से यह प्रकृति के आकर्षण से आबद्ध है, इसलिए इसको जीवन-मुक्त नहीं कहा जा सकता।

जब तक व्यक्ति जीवन-मुक्त नहीं हो पाता, जब तक वह प्रकृति को अपनी सहचरी नहीं बना लेता, तब तक पुरुष का प्रकृति से तादात्म्य नहीं हो सकता। यह तादात्म्य ही जीवन की पूर्णता है।

अग्निदेवता

हरिद्वार का कुम्भ। चारों तरफ़ विशाल जन समूह। तम्बुओं, कनातों का विशाल नगर। जहां तक दृष्टि जाती, तम्बू-ही-तम्बू नज़र आते। अचानक मेले में आग लग गई, और उसने कपड़े से बने तम्बुओं को अपनी विकराल लपटों में घेर लिया। चारों तरफ़ हाहाकार, क्रन्दन-सा मच गया, पर ईश्वर-भक्त सद्गृहस्थ रामसुख जी के तम्बू में आग का लवलेश तक नहीं था।

कुछ समय पहले ही इस तम्बू में गुरुदेव आए थे। बोले, "मुझे आग-ही-आग नज़र आ रही है, मैं तो यहीं बैठा हूं, मुझे कुछ खाने को दे।"

रामसुख जी की बहू ने उठकर स्टोव पर कड़ाही रखी। पूरियां निकलती गईं और स्वामी जी खाते रहे। चारों तरफ़ आग का भीषण तांडव, पर स्वामी जी शान्त, स्थिर, अविचलित।

रामसुख जी ने कहा भी, "स्वामी जी, चारों तरफ़ आग-ही-आग है। इस तम्बू को भी यह आग थोड़ी देर में लील जाएगी, चलें भाग चलें।

पर स्वामी जी चुप। आश्चर्य की बात यह है कि आसपास के सारे तम्बू जलकर ख़ाक हो गए, पर वह सर्वथा अछूता बचा रहा। शाम को छः बजे तक स्वामी जी एक आसन पर बैठकर कुछ-न-कुछ खाते रहे और शंकित मन रामसुख का परिवार उन्हें खिलाता रहा।

सात बजे जब वे उठे, तो चारों तरफ़ मरघट की-सी शान्ति थी! बाबा उठकर एक तरफ़ चले गए, न बोले, न कुछ कहा। अचानक उस स्थान पर जहां स्वामी जी बैठे थे, रामसुख जी का पैर पड़ गया। और पैर पड़ते ही उस पर फफोले हो आए।

सारी आग को तो स्वामी जी अपने आसन के नीचे दबाए बैठे थे। हज़ारों-लाखों दर्शक इस घटना के साक्षी हैं।

यज्ञ और योग

मुकुट बिहारी लाल पूज्य गुरुदेव के अनन्य भक्त थे, उनकी बड़ी इच्छा रहती थी कि किसी दिन पूज्य गुरुदेव कलकत्ता उनके घर चलें। परन्तु शहरों से दूर पूज्य गुरुदेव का मन हिमालय में ही रमता था। उनके जीवन का एक ही लक्ष्य था कि संन्यासी शिष्यों को साधना के क्षेत्र में इतना ऊंचा बना देना कि विश्व का कोई भी व्यक्ति उनसे टक्कर न ले सके। साथ-ही-साथ जो भारतीय विद्याएं लुप्त हो गई हैं, वे पुनः प्रचलित हों और कुछ ऐसे शिष्य तैयार किए जाएं, जो उच्च स्तरीय साधनाएं सीख सकें।

यह कार्य लम्बा और श्रमसाध्य अवश्य था, परन्तु गुरुदेव के लिए सब-कुछ साधारण था। फिर भी जब मुकुट बिहारी लाल जी का आग्रह बहुत अधिक बढ़ गया, तो हम आठ-दस शिष्यों के साथ वे कलकत्ता जाने के लिए तैयार हो गए।

बातचीत के प्रसंग में मुकुट बिहारी लाल जी ने यह भी बताया कि रमण पागल-सा हो गया है। रमण मुकुट बिहारी लाल जी का एकमात्र पुत्र था और उसने पूज्य गुरुदेव के सान्निध्य में कुछ योग साधना प्राप्त की थी।

उन दिनों मुकुट बिहारी लाल जी सपरिवार पूज्य गुरुदेव के चरणों में आए हुए थे। उन्होंने एक दिन निवेदन किया, "आप कलकत्ता पधारें। मेरी इच्छा एक बहुत बड़ा यज्ञ सम्पन्न करने की है। ऐसा यज्ञ करना चाहता हूं कि कलकत्ता में अभूतपूर्व हो।"

गुरुदेव ने कहा, "तेरी इच्छा यज्ञ करने की है, यह शुभ विचार है। परन्तु जो बाह्य रूप से यज्ञ है वही आन्तरिक रूप से योग है। योग का व्यक्तिकरण ही यज्ञ है। हमारे शरीर में भी जठराग्नि कुंड बराबर प्रज्वलित रहता है और हम उसमें निरन्तर आहुतियां देते रहते हैं।

"साधक को अपने शरीर में ही ज्यादा-से-ज्यादा गहराई में जाना चाहिए। जब वह प्राणायाम-भस्त्रिका आदि सम्पन्न करता है, तब वह यज्ञ-कुंड के पास पहुंचता है और उसको समझने की प्रक्रिया करता है। जब उसकी कुंडलिनी जाग्रत होती है तो योग के ग्रन्थों में उसे 'गोमेध' यज्ञ कहा गया है। 'गो' का अर्थ इन्द्रियां है और मेध का तात्पर्य उन्हें नियन्त्रण करना है। जब हम इन्द्रियों को पूरी तरह से नियन्त्रित कर सुषुम्ना के माध्यम से नाड़ियों का दोहन करते हुए ऊंचाई की ओर अग्रसर होते हैं। तो इसे 'गोमेध यज्ञ' कहा जाता है।

"इसके बाद पलटकर योगी को पुनः नाभि में प्रवेश करना पड़ता है। नाभि को शास्त्रों में 'अमृत-कुंड' कहा गया है, क्योंकि शरीर की समस्त क्रियाएं नाभि के द्वारा ही संचालित होती हैं। मन चंचल और अस्थिर है। वह चपल है, और उसे नियन्त्रित करना अत्यधिक कठिन है। जिस प्रकार बिगड़ैल घोड़े को क़ाबू में करना बहुत कठिन होता है, उसी प्रकार विषयों के प्रति आसक्त मन को नियन्त्रित करना भी बहुत कठिन माना गया है। पर यह बहुत कम योगियों को पता है कि मन का नियन्त्रण नाभि के द्वारा ही सम्भव है। जब कुंडलिनी जाग्रत होती है, तो सुषुम्ना आज्ञा चक्र से आगे जाकर पुनः दूसरे मार्ग से नीचे उतरती हुई नाभि में प्रवेश करती है, और इस प्रकार से वह एक दूसरा चक्र सम्पन्न करती है। जब योगी इस अवस्था को प्राप्त कर लेता है, तो वह 'अश्वमेध यज्ञ' कहलाता है, क्योंकि मन भी अश्व है और उसका 'मेध' नाभि के द्वारा ही सम्भव है।

"इसके अनन्तर योगी नाभि से हृदय की ओर बढ़ता है और हृदय पर अपना नियन्त्रण स्थापित करता है। हृदय समस्त शरीर का आधारभूत चेतना

तन्त्र है। और यह चेतना योग ग्रन्थों में 'वाजप' कही जाती है। यह क्रिया अत्यधिक कठिन है, परन्तु ऐसा होने पर योगी जितने समय तक चाहे हृदय की धड़कन को बन्द रख सकता है और उसे पुनः जाग्रत कर सकता है। ऐसा योगी ही मृत्यु पर विजय प्राप्त करने में सक्षम होता है। एक प्रकार से देखा जाए तो भीष्म की तरह वह इच्छा-मृत्यु सम्पन्न हो जाता है। ऐसा योगी हज़ारों वर्षों तक जीवित रह सकता है। हृदय को वाजप कहने की वजह से ही जब योगी ऐसी स्थिति प्राप्त कर लेता है तो वह 'वाजपेय यज्ञ' सम्पन्न कर लेता है।

"योगी की गति यहीं समाप्त नहीं हो जाती, अपितु इसके बाद वह पुनः पलटकर आज्ञाचक्र के वाम मार्ग से सहस्रार दल में पहुंचता है, जो कि योग की उच्चतम स्थिति है। सहस्रार दल सिर में वासुकि सर्प के फन की तरह है, जिसके हज़ार फन हैं? और उन सहस्र फनों से निरन्तर अमृत झरता रहता है। इसीलिए इसको सहस्रार दल या सहस्रार चक्र कहा गया है, और जब साधक या योगी इस स्थिति में पहुंच जाता है, तब अमृत को सोम कहने की वजह से इसे 'सोमयज्ञ' कहा जाता है।

"सही अर्थों में यज्ञ-कुंड तो शरीर के भीतर ही विद्यमान है और यदि गृहस्थ साधक या योगी इन कुंडों तक पहुंचकर यज्ञ सम्पन्न कर लेता है, तो वह सभी प्रकार के अद्वितीय यज्ञ सम्पन्न पुरोधा बन जाता है।

"यही बात रमण के पागल होने की है। वह मेरे साथ कुछ दिनों तक रहा है और योग का अभ्यास किया है। मैं तुम्हारे साथ आए रमण को देख रहा हूं, वह पागल नहीं अपितु योगभ्रष्ट हो गया है।" इसके बाद स्वामी जी ने रमण को अपने सामने बुलाया और शान्त चित्त से स्थिर होकर बैठने के लिए कहा। आधे घंटे तक पूज्य गुरुदेव उसके शरीर के विभिन्न अंगों पर दृष्टिपात करते रहे और फिर उसे जाने के लिए कह दिया।

उसके बाद मुकुट बिहारी लाल जी लगभग पन्द्रह-बीस दिन तक वहां रहे, परन्तु इस अवधि में रमण बिल्कुल शान्त रहा। किसी प्रकार का उद्वेग उसके मानस में, विचारों और कार्यकलापों में नहीं था।

आज रमण बिहारी लाल कलकत्ता के प्रतिष्ठित व्यक्तित्व हैं और व्यापार के क्षेत्र में बहुत सफल हैं।

चिरोंटी

एक बार ऋषिकेश में हम लगभग एक महीने तक रहे। उन्हीं दिनों पूज्य गुरुदेव ने लगभग 600 पदों में गंगा स्तवन की रचना की थी, जो कि आगे चलकर संन्यासियों में बहुत अधिक प्रसिद्ध हुई।

ऋषिकेश से हम पैदल ही ऊपर होते हुए देहरादून गए। वहीं पर पूज्य गुरुदेव की एक शिष्या अनुरक्ता मां रहती थीं। एक दिन प्रातः उठते ही स्वामी जी ने कहा, "अनुरक्ता मुझे आवाज़ दे रही है। वह अपने शरीर को छोड़ना चाहती है, हमें वहां जाना चाहिए।"

जब हम अनुरक्ता मां के घर पहुंचे, तो हमने देखा कि सहस्र धारा के निकट, अत्यधिक साफ़-सुथरा, एक सुन्दर आश्रम है, जिसके मध्य में एक छोटा-सा मगर भव्य मन्दिर है। इस मन्दिर में पूज्य गुरुदेव का बहुत बड़ा-सा चित्र रखा हुआ था। मां नित्य उस मन्दिर की और आश्रम की सफ़ाई, प्रबन्ध-व्यवस्था संभालती थीं।

मां की शादी ग्यारह वर्ष की अवस्था में ही हो गई थी, परन्तु संयोगवश छः महीने बाद ही एक दुर्घटना में उसके पति की मृत्यु हो जाने की वजह से वह संसार से विरक्त हो गई। उसके कुछ ही क्षणों बाद उसने पूज्य गुरुदेव से दीक्षा प्राप्त कर ली और सहस्रधार के निकट ही ज़मीन लेकर छोटा-सा आश्रम बनाया।

गुरुदेव को अचानक अपने आश्रम में आया देखकर वह बुढ़िया मां उसी प्रकार से दौड़कर स्वामी जी से लिपट गई जैसे कोई बच्ची कई दिनों बाद आए पिता को देखकर उससे लिपट जाती है। उसकी आंखों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी और चरणों में सिर रखकर फूट-फूट कर रो पड़ी। हम सब उसकी भाव-विह्वलता को देखकर आर्द्र हो उठे।

उस दिन उसने बड़े मनोयोग से हम सबके लिए भोजन पकाया। हमारे साथ दो बहनें भी थीं और भोजन पकाने में सहयोग देने की कोशिश भी कीं, परन्तु मां ने किसी को भी रसोई के अन्दर आने नहीं दिया। किसी को कोई तकलीफ़ न हो, क्योंकि सब थके हुए हैं, उन्हें आराम मिलना चाहिए, इसी भावना से मां स्वयं खाना बना रही थी।

उस दिन शाम को मां ने अत्यधिक आग्रह से हम सबको भोजन कराया।

सायंकाल जब गुरुदेव अकेले अपनी व्यक्तिगत साधना के लिए ऊपर पहाड़ की तरफ़ चले गए, तो हमें पता चला कि मां उस तरफ़ वैद्य के रूप में भी मशहूर है और कोढ़ की उसके पास अचूक दवा है। उस तरफ़ कुछ विशेष कारणों से गांव में यह कोढ़ की बीमारी बहुत ज़्यादा थी और प्रत्येक दूसरे घर में कोढ़ किसी-न-किसी को हो जाता था। अचानक किसी बालक या बालिका के शरीर पर छोटा-सा सफ़ेद चकत्ता बनता और यह फैलने लगता। धीरे-धीरे उसके चेहरे पर सफ़ेद दाग़ उभरता और थोड़े दिनों बाद पूरा चेहरा सफ़ेद गेहुंए दाग़ों से भर जाता। इससे उसका चेहरा बदरंग हो जाता। मां के पास इसकी अचूक औषधि थी और वह मलहम प्रत्येक को मुफ्त में दे देती। जब भी शरीर पर कोई चकत्ता उभरता, तो उस पर वह मलहम लगा दिया जाता और दो घंटे बाद जब गर्म पानी से उस स्थान को धोया जाता, तो वह सफ़ेद चमड़ी शरीर की अन्य चमड़ी की तरह सामान्य हो जाती। बाद में कभी भी वापस सफ़ेद दाग़ या कोढ़ के लक्षण प्रकट नहीं होते।

उस तरफ़ देहरादून से मसूरी की तरफ़ जाते समय मार्ग में पहाड़ों पर 'चिरोंटी' का पौधा बहुतायत से पाया जाता है। यह पौधा लगभग चार फ़ीट के घेरे में होता है और इसकी ऊंचाई छः फ़ीट होती है। इसके पत्ते गोलाई लिये हुए कुछ नुकीले-से होते हैं, और बारहों महीने इस पर बेर के आकार के फल लगते रहते हैं, जो पीले रंग के होते हैं।

इन फलों को तोड़कर घर लाकर कूटकर, लुगदी-सी बना दी जाती है और इन्हें शिला पर घोटकर बारीक मलहम बना दिया जाता है। फिर वह मलहम किसी डिब्बे में या पात्र में भरकर रख दिया जाता है।

जिसके भी शरीर पर सफ़ेद दाग़, चकत्ता या कोढ़ हो, तो पहले गर्म पानी से उस स्थान को अच्छी तरह से धो लिया जाता है और फिर खुरदरे तौलिए से उसको रगड़कर स्वच्छ बना दिया जाता है। इसके बाद उस पर मलहम लगा कर सुला दिया जाता है। लगभग ढाई घंटे बाद जहां मलहम लगा होता है, उसे गर्म पानी से ही धो दिया जाता है। ऐसा करने पर वह सफ़ेद दाग़ हमेशा के लिए समाप्त हो जाता है और उस जगह का रंग भी शरीर की अन्य चमड़ी की तरह ही हो जाता है। पता ही नहीं चलता कि यहां कोई दाग़ या सफ़ेद धब्बा था।

तब तक गुरुदेव साधना सम्पन्न कर नीचे उतर आए थे। आने के बाद स्नान किया और एक स्वच्छ शिला पर बैठ गए। सामने हम सब और मां भी बैठे हुए थे।

मां ने कहा, "पूज्य गुरुदेव, मैं अब इस शरीर से मुक्त होना चाहती हूं। यह शरीर जर्जर और अशक्त हो गया है। मैं नवीन शरीर धारण करना चाहती हूं, क्योंकि मेरे मन में मुक्ति की कोई आकांक्षा नहीं है। मैं तो चाहती हूं कि पुनः जन्म लूं और पुनः आपकी शिष्या बनकर साधना के क्षेत्र में पूर्णता प्राप्त करूं।"

उसकी मर्मभेदी बातों को सुनकर हम सब एकबारगी ही सन्न रह गए। यह कैसी वज्राघात-सी बात मां ने कह दी। हम सब मां के चेहरे की ओर ताकने लगे।

"कल निर्जला एकादशी है, और मैं प्रातः सूर्य के साक्ष्य में अपने प्राणों को आपके हाथ में सौंप देना चाहती हूं। पर इससे पूर्व आप मुझे आश्वासन दें कि अगले जीवन में आप मुझे अवश्य ढूंढ़ निकालेंगे और अपनी शिष्या बना लेंगे।"

गुरुदेव ने उत्तर दिया, "अनुरक्ता, तुम यदि चाहो तो साल-दो साल और इस शरीर को ढो सकती हो। तुम्हें एक-दो साल और मिल सकते हैं।"

मां ने खड़े होकर अत्यन्त ही कातर स्वर में निवेदन किया, "मैं जाना चाहती हूं, जिससे कि जल्दी ही आपके चरणों में लौटकर आ सकूं। आप मुझे भटकाइए मत। वचन दीजिए कि आप अगले जीवन में मुझे ढूंढ़ निकालेंगे और आठ-नौ वर्ष की अवस्था में ही मुझे शिष्या बना लेंगे।"

गुरुदेव ने अर्थपूर्ण दृष्टि से मां की आंखों में एक क्षण के लिए देखा और कहा, "तेरे जाने का समय आ गया है। परन्तु तू निश्चिन्त रह। तूने जैसा सोचा है, वैसा ही होगा।"

वह रात हमने भजन-पूजन में ही व्यतीत की। घी का दीपक जला दिया था, और हम सभी गुरु भाई-बहन भजन गाते रहे। प्रातःकाल पूज्य गुरुदेव ने पूरी गीता मां को सुनाई और निर्जला एकादशी के दिन सूर्य निकलते ही उसकी साक्षी में गुरुदेव के पैरों पर सिर रखकर मां ने यह चोला छोड़ दिया।

मृत्यु को इतनी निकटता से देखने का यह मेरा पहला अवसर था, परन्तु मां की ज़िन्दगी पर भी हमें गर्व था और उसकी मृत्यु पर भी जो अपने-आप में अद्वितीय थी, हमें गर्व था। ऐसे कितने सौभाग्यशाली हैं, जिन्होंने इच्छा-मृत्यु वरण की हो। मां की इच्छा निर्जला एकादशी के दिन सूर्य की साक्षी में गुरु-चरणों में मृत्यु प्राप्त करने की थी और उसने वैसा ही किया।

शिष्य ज्ञान

एक दिन मैं और गुरुदेव मसूरी के आगे ही जा रहे थे, जहां पर आजकल 'कैम्पटी फ़ॉल' है। उसी के पास झाबुआ नाम का गांव है। यों ही हम इस गांव के पास से गुज़रने लगे कि गुरुदेव अचानक रुक गए। उन्होंने इधर-उधर देखा, तो कोई दिखाई नहीं दिया, परन्तु उनके पांव ठिठककर रुक गए।

मैं भी रुक गया, परन्तु मैं समझ नहीं सका कि अचानक चलते-चलते गुरुदेव क्यों रुक गए हैं?

गुरुदेव ने कहा, "मुझे ऐसे संकेत मिल रहे हैं कि यहीं आसपास ही अनुरक्ता ने जन्म ले लिया है और वह लगभग सात-आठ वर्ष की हो गई है।"

मुझे आठ वर्ष पूर्व घटित घटना स्मरण हो आई। जब हम सब गुरु भाई-बहन सहस्रधारा के निकट आश्रम में थे और मां अनुरक्ता ने हम सबको वात्सल्य भाव से भोजन कराया था। मुझे यह भी स्मरण हो आया कि उसने देह छोड़ने से पूर्व पूज्य गुरुदेव से वचन लिया था कि वह उन्हें ढूंढ़ निकालेंगे और दीक्षा देकर उच्चस्तरीय साधनाओं से सम्पन्न करेंगे।

मैं तो इस घटना को लगभग भूल ही गया था, परन्तु गुरुदेव को प्रत्येक घटना और अपने वचनों का पूरा-पूरा ध्यान रहता है। यह आज के तथ्यों से पता चला।

पूज्य गुरुदेव के पैर रुक गए, परन्तु दिशाबोध स्पष्ट नहीं हो रहा था — किस तरफ़, किस घर में अनुरक्ता ने जन्म लिया है। यह तो स्पष्ट है कि उसने इस झाबुआ गांव में ही जन्म लिया है।

झाबुआ गांव छोटा-सा था और तीन-चार हज़ार की आबादी दिखाई दे रही थी। जैसे पहाड़ी गांव होते हैं, वैसा ही सामान्य पहाड़ी गांव था और इसके

पास से हम निकलते हुए नैनीताल की ओर जा रहे थे।

गुरुदेव ने अपने हाथ में पकड़े हुए चिमटे को ऊपर उठाया और इस ढंग से उसे सिर के ऊपर पकड़कर खड़ा किया जैसे एरियल लगाया हो और उस चिमटे को धीरे-धीरे चारों दिशाओं में घुमाने लगे।

एक विशेष दिशा की ओर चिमटा घुमाते ही स्पष्ट आवाज़ उनके कानों में सुनाई दे रही थी, "गुरुदेव, मैं अनुरक्ता हूं। मैं आपका इन्तज़ार कर रही हूं।"

उन्होंने जब चिमटे को दूसरी ओर घुमाया, तो आवाज़ आनी बन्द हो गई। यह आवाज़ एक विशेष दिशा की ओर चिमटा खड़ा करने पर ही आ रही थी। आवाज़ इतनी स्पष्ट थी कि गुरुदेव ही नहीं, अपितु मुझे और मेरे पास खड़ी गुरु बहन अनुसूया को साफ़-साफ़ सुनाई पड़ रही थी।

गुरुदेव चिमटा उठाए-उठाए ही उस तरफ़ बढ़ने लगे जिस तरफ़ से वह आवाज़ आ रही थी। हम सब भी उनके पीछे-पीछे चल रहे थे। उन्होंने एक ग्रामीण से पूछा, 'इस तरफ़ कोई ब्राह्मण का घर है?"

एक ग्रामीण ने उत्तर दिया, "जिधर आप जा रहे हैं, उधर ही गली के उस छोर पर शतानन्द पहाड़ी पंडित रहते हैं।"

गुरुदेव उस गली में ही आगे बढ़ गए और शतानन्द के घर के सामने जाकर रुक गए। छोटा-सा पहाड़ी घर था, और उसके बाहर ही लगभग पचास-पचपन वर्ष का सरल सात्त्विक ब्राह्मण, धोती-कुरता पहने शतानन्द खड़े थे। गुरुदेव ने पूछा, "तुम्हारा नाम ही शतानन्द है?"

उसके स्वीकृति में सिर हिलाने पर गुरुदेव ने आगे पूछा, "क्या सात-आठ वर्ष पहले तुम्हारे घर किसी कन्या ने जन्म लिया था?"

शतानन्द पंडित आश्चर्यचकित रह गए कि इस संन्यासी को कैसे पता चला कि आठ साल पहले मेरे घर कन्या ने जन्म लिया है। शतानन्द ने उत्तर दिया, "महाराज, मैं लगभग वृद्ध हो चला हूं, मेरे कोई भी सन्तान नहीं हुई थी। भगवान की कृपा से वृद्धावस्था में आज से आठ वर्ष पूर्व एक कन्या ने जन्म लिया, जिसका नाम मैंने सत्संगा रखा है। वह पुत्री होकर भी मेरे लिए पुत्र की तरह ही है।"

शतानन्द ने आवाज़ देकर अपनी पुत्री सत्संगा को बुला लिया। आठ वर्ष की वह छोटी-सी बालिका हमारे सामने आई, तो हम सब शिष्य चौंक से पड़े। उसका चेहरा बिल्कुल मां अनुरक्ता की तरह ही था। यद्यपि मां के चेहरे पर झुर्रियां-सी पड़ी हुई थीं और यह अभी बालिका थीं, परन्तु चेहरे पर बहुत कुछ साम्य साफ़-साफ़ दिखाई दे रहा था। सत्संगा ने गुरुदेव के सामने आते ही दोनों हाथ जोड़ दिए और ठीक मां की तरह ही चरणों में झुक गई।

स्वामी जी ने उसके सिर पर हाथ फेरते हुए आशीर्वाद दिया और कुछ क्षणों तक उस बालिका को देखते रहे। बालिका भी गुरुदेव को बिना पलक झपकाए बराबर ताकती रही। ऐसा लग रहा था जैसे दोनों लम्बी बातचीत कर रहे हों।

गुरुदेव उस दिन वहीं रुक गए और दूसरे दिन पूर्णिमा को शतानन्द की आज्ञा प्राप्त कर बालिका को दीक्षा दी और गुरु मन्त्र जप करने के लिए कहा। मां अनुरक्ता और सहस्रधारा स्थित आश्रम के बारे में सब-कुछ बता दिया। यह भी बता दिया कि मां अनुरक्ता की मृत्यु किस प्रकार से हुई थी और मरते समय उसने क्या वचन लिया था।

गुरुदेव ने अपने गले में पहनी हुई माला उसे देते हुए गुरु मन्त्र का जप करने के लिए कहा, और हम सब वहां से रवाना हो गए।

इसके काफ़ी वर्षों बाद गुरुदेव ने उसे संन्यास की दीक्षा दी और इसके बाद वह उच्चस्तरीय साधिका बनी। योगियों में और उच्चस्तरीय साधकों-संन्यासियों में आज भी मां सत्संगा का नाम अत्यन्त आदर के साथ लिया जाता है। अपनी इस साधना के बल पर मां सत्संगा सिद्धाश्रम में प्रवेश कर सकी और आज सिद्धाश्रम के श्रेष्ठ योगिनियों में उसका नाम है।

रोग और स्वास्थ्य

रोग भुक्ति

उन दिनों हम शिमला से आगे हिमदा पहाड़ी पर थे। पूज्य गुरुदेव यहां कुछ संन्यासियों को विशिष्ट साधनाएं सम्पन्न करवा रहे थे। चर्चा चलने पर एक गुरु भाई प्रमथनाथ ने पूछा, "क्या कोई ऐसा उपाय नहीं है कि व्यक्ति सर्वथा रोग-मुक्त होकर आनन्दयुक्त जीवन व्यतीत कर सके?"

स्वामी जी ने उत्तर दिया, "प्रथम, रोग आन्तरिक शरीर को तोड़ डालता है जब कि चिकित्सा मात्र बाह्य शरीर की ही होती है। हमारे इस शरीर के भीतर एक और शरीर है और दोनों का अस्तित्व अलग-अलग है। जब तक आन्तरिक देह की चिकित्सा नहीं होती, तब तक यह रोग पूर्णरूपेण समाप्त नहीं हो सकता। वैद्य और डॉक्टर केवल बाहरी शरीर की ही चिकित्सा करते हैं या औषधि के द्वारा बाहरी शरीर को ही स्वस्थ करने का प्रयत्न करते हैं, क्योंकि उन्हें केवल बाहरी शरीर का ही ज्ञान है जब कि चिकित्सा आन्तरिक शरीर की करनी अनिवार्य है, रोग सीधे आन्तरिक शरीर को जकड़ता है।

"पूर्णतः रोगमुक्त होने के लिए औषधि पूर्ण उपाय नहीं है। अपितु पूर्ण स्वस्थता तो वैदिक मन्त्रों के द्वारा ही सम्भव है। ये मन्त्र जब रोगी या उसके सामने बैठा हुआ वेदपाठी उच्चारित करता है, तो उसकी ध्वनि कानों के द्वारा उसके आभ्यन्तरिक शरीर को झंकृत करती है। यह झनझनाहट ही शरीर को रोगमुक्त करने की प्रक्रिया है।

"यजुर्वेद और अथर्ववेद में विविध रोगों की निवृत्ति के लिए विविध मन्त्र दिए हैं। यदि उन मन्त्रों का उच्चारण किया जाए या निरन्तर श्रवण किया जाए, तो निश्चय ही उससे आभ्यन्तर शरीर झंकृत होता है और बहुत जल्दी रोग-मुक्त

हो जाता है, औषधि के द्वारा जो कार्य छः महीनों में होता है वह कार्य इन मन्त्रों के द्वारा छः दिन में ही सम्पन्न हो जाता है।

"कुछ मन्त्र समस्त व्याधियों को समाप्त करने में समर्थ हैं, चाहे वे पित्त-सम्बन्धी हों, चाहे वात या कफ-सम्बन्धी। बीमारियां तीन प्रकार की ही होती हैं—वात, पित्त और कफ, और इन सभी बीमारियों को इस विशिष्ट मन्त्र से दूर किया जा सकता है।" वह मन्त्र मुझे आज भी स्पष्ट स्मरण है —

त्र्यम्बकं यजामहे उर्वा रुकमिव स्तुता वरदा प्रचोदयन्तां।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ॥

इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा यह तीन मन्त्रों का समन्वित स्वरूप है और इसके उच्चारण अथवा श्रवण से सभी प्रकार की बीमारियां और रोग दूर हो जाते हैं।

योग बल

उन दिनों स्वामी जी अमरकंटक के पास कुछ समय के लिए ठहरे। अमरकंटक नर्मदा का उद्गम है और यह एक पौराणिक तथा अत्यधिक रमणीय स्थल है। स्वामी जी ने योग बल की परिभाषा समझाते हुए कहा, "सब-कुछ सब-कुछ में समाहित है।"

'सर्व सर्वात्मक' का अर्थ ही यही है कि हमारी दृष्टि-पथ में जो कुछ भी है, वह अपने-आप में सम्पूर्ण है, परन्तु यह सम्पूर्णता ही दूसरी दृष्टि से अपूर्णता है, क्योंकि हम जो कुछ देखते हैं वह उसका एक भाग ही होता है। इसको जब हम सम्पूर्णता में समावेश करते हैं, तो देखी हुई वस्तु का विलीनीकरण हो जाता है।

उन्होंने अपने पास पड़े हुए छोटे-से पत्थर के टुकड़े को उठा लिया। बोले, "यह पत्थर का टुकड़ा है, यह दूसरे शब्दों में पत्थर है। अपने-आप में यह पूर्ण है, क्योंकि इस पत्थर के टुकड़े की अपने-आप में स्वतन्त्र सत्ता है। इतना होने पर ही यह किसी प्रस्तर खंड का ही एक भाग है। और इस प्रकार यह पत्थर का टुकड़ा अपने-आप में ही पूर्ण होते हुए भी अपूर्ण है।"

गुरुदेव ने कहा, "यह पत्थर का टुकड़ा होते हुए भी पत्थर का टुकड़ा नहीं

है, या मैं यों कहूं कि यह और कुछ हो सकता है, पर पत्थर का टुकड़ा तो निश्चित रूप से नहीं है।" और ऐसा कहते-कहते उन्होंने मुझे बुलाकर अपने से लगभग आठ फुट की दूरी पर खड़ा कर दिया। मेरे हाथ में वही पत्थर का टुकड़ा था जो हम सबने देखा था।

स्वामी जी ने अपने दोनों नेत्रों से उसे देखना प्रारम्भ किया और हमने देखा कि धीरे-धीरे उस पत्थर के टुकड़े में परिवर्तन हो रहा है। लगभग दो-तीन मिनट के अन्दर-अन्दर यह जूही के पुष्प में परिवर्तित हो गया।

गुरुदेव ने व्याख्या करते हुए कहा, "पतंजलि अपने-आप में सही हैं। उन्होंने 'सर्व सर्वात्मकम' सूत्र की रचना की थी, तब उस समय उनके मानस में यही बात घूम रही होगी।"

स्वामी जी ने कहा, "यह सूर्य सिद्धान्त के माध्यम से नहीं, अपितु योग बल के माध्यम से सम्भव है। यद्यपि निमिष बाबा, चैतन्य, स्वामी लाहिड़ी आदि सूर्य सिद्धान्त में निष्णात हैं, परन्तु सूर्य रश्मियों के द्वारा पदार्थ परिवर्तन के लिए लेंस की आवश्यकता होती है। वह लेंस शीशे का बना हो सकता है या स्फटिक के वर्तुल के द्वारा बनाया जा सकता है, जो कि सूर्य-रश्मियों को घनीभूत कर सके और पदार्थ को मनोवांछित रूप में परिवर्तित कर सके। उसमें दो तथ्य निहित होते हैं। लेंस के द्वारा सूर्य-रश्मियों को घनीभूत करना और अपने हाथ से ही पदार्थ परिवर्तित करना।

"जब कि मैंने उस पत्थर के टुकड़े को छुआ भी नहीं है और वह मुझसे सात-आठ फुट की दूरी पर तुम्हारे हाथों में रहा है। केवल नेत्रों के माध्यम से एक पदार्थ में परिवर्तित किया है। यह योग बल के माध्यम से ही सम्भव है।

"फिर उन्होंने योग बल की व्याख्या करते हुए कहा, बाहर विश्व में जो सूर्य देदीप्यमान है, उससे करोड़ों गुना तेज और ताप लेकर एक सूर्य हमारे अन्दर भी निहित है, मगर उसका तेजस और ताप बिखरा हुआ है। आवश्यकता है योग के माध्यम से उन शरीरस्थ रश्मियों को घनीभूत करना और नेत्रों के माध्यम से पदार्थ पर उन हृदयस्थ रश्मियों का प्रभाव डालकर पदार्थ परिवर्तित करना।"

सूर्य सिद्धान्त

हम अमरकंटक में लगभग दो महीने रहे। स्वामी अमरकंटक के उस स्वरूप को

ढूंढ निकालना चाहते थे, जो पुराणों में वर्णित है। वे नित्य कुछ समय के लिए अकेले निकल जाते और दो-तीन घंटों के बाद लौटते।

एक दिन चर्चा के दौरान स्वामी जी ने बताया कि सूर्य सिद्धान्त बिल्कुल अलग विधि है। हम सूर्य सिद्धान्त के बारे में जानना चाहते थे। यद्यपि हम यह जानते थे कि यह विषय अत्यन्त दुरूह, गूढ़ और जटिल है।

एक दिन दोपहर को स्वामी जी एक शुभ्र शिला पर बैठे हुए थे। चारों तरफ मधुर सुगन्धित पवन बह रही थी और उसके साथ-ही-साथ प्रकृति भी उन्मुक्त भाव से अठखेलियां कर रही थी।

उन्होंने कुछ क्षण सोचा और कहा, " निश्चय ही सूर्य सिद्धान्त पतंजलि का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है और इस सिद्धान्त और प्रमाण को सबसे पहले पतंजलि ने ही स्पष्ट किया था। इसके बाद तो उनके शिष्य सुधन्वा, प्रियंकु, देदेत्व आदि ने आगे बढ़ाया था। वर्तमान समय में भी निमिष, चैतन्य, लाहिड़ी, विरोचन आदि संन्यासी सूर्य सिद्धान्त में निष्णात हैं, परन्तु इन सबने पतंजलि के सूर्य सिद्धान्त को ही समझा है और इसी के आधार पर सूर्य सिद्धान्त की व्याख्या करते हैं, परन्तु यह व्याख्या अपूर्ण है।

" पतंजलि ने अपने सूत्रों में समझाया है कि सूर्य की किरणों में विभिन्न रंगों से युक्त रश्मियां हैं और इनका समन्वित रूप ही श्वेत है, जिसे विशुद्धात्मक तत्त्व कहा जाता है। यह श्वेत रश्मि ही अन्य रश्मियों को विकीर्ण करती है और साम्यावस्था लाती है। जब विकीर्ण होती है, तो तत्त्व की न्यूनता बढ़ने लगती है।

" रश्मियों का भंजन है अणु। यह अणु ही पदार्थों की मूल चेतना है। रश्मियों के माध्यम से अणुओं में परिवर्तन किया जा सकता है और एक अणु को दूसरे अणु में रूपान्तरित किया जाना सम्भव है। — ह्रौं

" इसमें सबसे बड़ी पेचीदा स्थिति यही है कि प्रत्येक रश्मि अपने-आप में अस्थायी है। अस्थायी होने के साथ-साथ इसका स्वभाव क्षणिक होता है। ऐसी स्थिति में एक रश्मि का दूसरी रश्मि पर आरोहण किया जाना सम्भव नहीं होता। यहां पर पतंजलि मौन हैं और इसी स्थिति तक अन्य योगी पदार्थों का परिवर्तन करते हैं।

" इसमें कमी यही होती है कि पदार्थों का परिवर्तन तो वे कर लेते हैं, पर उन्हें स्थायित्व नहीं दे पाते। क्योंकि जब रश्मि स्वयं क्षणिक और अस्थायी है तो निश्चय ही पदार्थ भी क्षणिक और अस्थायी ही होंगे। ये संन्यासी — निमिष बाबा, चैतन्य स्वामी, लाहिड़ी महोदय, विरोचन संन्यासी आदि किसी गुलाब के पुष्प को पत्थर में या कोयले को हीरे में रूपान्तरित कर लेते हैं और यह बात भी सही है कि यह रूपान्तरण बिल्कुल असली और प्रामाणिक होता है, परन्तु यह रूपान्तरण क्षणिक और अस्थायी रश्मियों के माध्यम से होता है, इसीलिए उनका परिवर्तित पदार्थ भी क्षणिक और अस्थायी होते हैं। ये संन्यासी जो भी पदार्थ रूपान्तरित करते हैं, वे कुछ समय के लिए ही रह पाते हैं, बाद में मूल स्वरूप में बदल जाते हैं। इन संन्यासियों की न्यूनता है और न्यूनता का कारण पतंजलि की सूर्य रश्मियों के सिद्धान्त को भली प्रकार से न समझ पाना है।"

कुछ क्षण रुककर स्वामी जी ने बताया, "इसका स्थायित्व श्वेत-रश्मि के माध्यम से ही सम्भव है, जब कि इन सूर्य की सप्त रश्मियों में श्वेत-रश्मि होती ही नहीं। इन सभी रश्मियों का संगठन स्वरूप ही श्वेत-रश्मि है। इस श्वेत-रश्मि को ही विशुद्धात्मक तत्त्व कहा गया है। आवश्यकता इस श्वेत-रश्मि को पकड़ने की है, क्योंकि यह स्थायी और अमिट है।"

स्वामी जी ने आगे बताया, "इस श्वेत-रश्मि को चौबीस कोणीय स्फटिक के माध्यम से ही पकड़ा जा सकता है और इस स्फटिक के प्रत्येक कोण एक-दूसरे से वर्तुलावस्था में होते हैं।" ऐसा कहते-कहते स्वामी जी ने कुछ क्षणों के लिए आंखें बन्द कीं और अपना दाहिना हाथ ऊपर उठा लिया। हम सब शिष्य उनके उठे हुए दाहिने हाथ को देख रहे थे। देखते-ही-देखते उनके हाथ में चार इंच लम्बा और चार इंच चौड़ा गोल स्फटिक का लेंस आ गया। वह शुभ्र और चमकीला था। ऐसा लग रहा था जैसे उसमें से किरणें निकल रही हों। ये किरणें अत्यधिक शुभ्र, स्वच्छ और गतिशील दिखाई दे रही थीं।

स्वामी जी ने आंखें खोल दीं और बताया, जिस स्फटिक लेंस की मैं चर्चा कर रहा था वह ऐसा ही होता है।

स्वामी जी ने वह लेंस मेरे हाथों में दे दिया। हम सबने स्पर्श कर अनुभव किया कि उसमें से बराबर तरंगें निकल रही हैं और वह उष्ण है।

सूर्य सिद्धान्त को आगे बढ़ाते हुए स्वामी जी ने बताया, "इस लेंस में चौबीस

वर्तुल हैं और प्रत्येक वर्तुल एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। इसलिए जब सूर्य की किरण इस स्फटिक लेंस पर पड़ती है, तो घनीभूत होती हुई एक वर्तुल से दूसरे वर्तुल में प्रवाहमान होती है, और जब वह रश्मि चौबीसवें वर्तुल में प्रवेश करती है, तो सर्वथा शुभ्र और श्वेत रंग की होकर रह जाती है, वही रश्मि जब उस अन्तिम वर्तुल से निकलकर पदार्थ पर पड़ती है, तो मनोवांछित पदार्थ-परिवर्तन हो जाता है, ऐसा पदार्थ-परिवर्तन हमेशा के लिए स्थायी होता है।"

इसकी व्याख्या को थोड़ा और स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया, "इस लेंस के माध्यम से पत्थर को स्वच्छ स्वर्ण में या हीरे में परिवर्तित किया जा सकता है और वह स्वर्ण का हीरक खंड पूर्णतः प्रामाणिक, असली, निर्दोष और स्थायी होता है।"

उन्होंने थोड़ी और व्याख्या करते हुए कहा, "संसार के जितने भी पदार्थ हैं, वे सभी चौबीस वर्तुलों से आबद्ध हैं। इन चौबीसों को अन्य वर्तुलों से सम्बद्ध करने पर अनन्त वर्तुल हो जाते हैं। उदाहरणार्थ चौबीसवें वर्तुल को दसवें वर्तुल से आबद्ध करने पर दो सौ चालीस वर्तुलयुक्त तथा उसे एक साथ बीसवें वर्तुल से सम्बद्ध कर दिया जाए, तो 4800 वर्तुलयुक्त हो जाता है। यद्यपि हम चाहें तो अनन्त वर्तुलों तक इसके माध्यम से बढ़ सकते हैं।

"परन्तु जैसा कि मैंने बताया सारे संसार के पदार्थ मूलतः चौबीस वर्तुल से ही युक्त हैं। सूर्य सिद्धान्त जानने वाले योगी को यह ज्ञान होना चाहिए कि प्रकृति का कौन-सा पदार्थ कितने वर्तुलों से युक्त है। उदाहरण के लिए पत्थर दो वर्तुल से युक्त है, तो हीरक खंड 21वें वर्तुल से सम्बन्धित है। इसी प्रकार लकड़ी पांचवें वर्तुल से सम्बन्धित है।

"अब यदि पत्थर को हीरक खंड मे परिवर्तित करना है तो उस श्वेत रश्मि को चौबीसवें वर्तुल से पुनः दूसरे वर्तुल में लाकर सीधे बाईसवें वर्तुल में प्रवेश कराकर वहीं से उस पत्थर पर प्रभाव डालें, तो वह पत्थर का टुकड़ा निश्चय ही हीरक खंड में परिवर्तित हो जाएगा, और यदि दूसरे वर्तुल से सातवें वर्तुल में उस रश्मि को प्रवेश कराकर पदार्थ पर निक्षेप करें, तो वह पत्थर लकड़ी के टुकड़े के रूप में परिवर्तित हो जाएगा।"

उन्होंने अपने पास ही पड़े हुए पत्थर के टुकड़े को उठाया और हम लोगों के सामने ही सूर्य के सामने एक विशेष कोण से स्फटिक लेंस रखकर उस पर

रश्मि निक्षेप किया, तो हमने देखा कि वह पत्थर का टुकड़ा धीरे-धीरे संकुचित हो रहा है और लगभग दो मिनट के बाद ही वह छोटे-से हीरे के रूप में परिवर्तित हो गया। स्वामी जी ने वह शुभ्र हीरक खंड हम सब शिष्यों को देखने के लिए दिया। वह हीरक खंड मेरे घर में विद्यमान है।

सायंकालीन सन्ध्या का समय हो रहा था। गुरुदेव ने उस लेंस को दाहिने हाथ में पकड़कर हवा में उठाया और दूसरे ही क्षण वह शून्य में विलीन हो गया। गुरुदेव ने कहा कि योगी अपने पास कुछ भी नहीं रखता। जब ज़रूरत होती है प्रकृति से प्राप्त कर लेता है और कार्य समापन होने पर वह वस्तु प्रकृति को ही लौटा देता है।

यो मां पश्यति सर्वत्र

एक दिन स्वामी जी रुके हुए थे। उस दिन वार्तालाप का विषय श्रीमद्भगवद्गीता था। एक संन्यासी ने खड़े होकर नम्रता से पूछा, "भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में सम्पूर्ण चराचर को विश्व रूप माना है, यह कैसे सम्भव है? क्या प्रत्येक अणु और कण-कण ईश्वर है? और यदि ऐसा है तब तो भगवान की मूर्ति ही नहीं अपितु जीव-जन्तु, कीट-पतंग, कीटाणु आदि भी साक्षात ईश्वर हैं।"

गुरुदेव ने उस दिन गीता के इस चिन्तन को बहुत ही सुन्दर ढंग से सबके सामने रखा। उन्होंने व्याख्या के प्रसंग में बताया था कि भगवान श्रीकृष्ण के कहने का सार यह था कि व्यक्ति जब उच्च स्तर पर पहुंच जाता है, तो वह समस्त प्रकार के आकर्षण-सम्बन्धों से मुक्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसके सामने जो भी दृश्यमान होता है, वह उन सभी दृश्य पदार्थों में भगवान के स्वरूप को ही देखता है, परन्तु उसका भगवान सगुण, आकारयुक्त नहीं होता, अपितु निराकार, निर्गुण व्यक्ति होता है। भगवान ने स्वयं गीता में कहा है —

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्व च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

"मुझे सर्वत्र देखने पर ही सफलता एवं पूर्णता प्राप्त होती है। सभी में मैं ही हूं और प्रत्येक पदार्थ मेरा ही स्वरूप है। वह चाहे सजीव हो, चाहे निर्जीव।" भगवान ने स्वयं गीता में अपने स्वरूप को स्पष्ट करते हुए बताया है कि समस्त ब्रह्मांड मेरे द्वारा ही निर्मित है और मुझमें ही उसका विलीनीकरण है।

जब साधक या व्यक्ति में प्रभु को देखने का भास आ जाता है, तब वह 'जीवन-मुक्त' हो जाता है, क्योंकि उस व्यक्ति का किसी जीवन से किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वह पत्नी, पुत्र, गाय, भैंस, पत्थर आदि सभी में प्रभु के ही दर्शन करता है। ऐसी स्थिति में मृत्यु के समय उसके सामने जो भी पदार्थ होता है, उस पदार्थ में ही उसे प्रभु के दर्शन होते रहते हैं। न उसे गीता सुनने की जरूरत है, न राम नाम जपने की, क्योंकि उस समय उसके सामने चाहे पुत्र खड़ा हो, चाहे पत्नी, चाहे पत्थर का खम्भा हो या लकड़ी का टुकड़ा वह उन सबमें भगवान के ही दर्शन करता है और उनके दर्शन करते-करते ज्यों ही वह अपनी देह को छोड़ता है, तो भगवान में ही सही अर्थों में विलीन होता हुआ जीवन-मुक्त हो जाता है।

गुरुदेव ने कुछ संन्यासी वृद्धों की आंखों में अनिश्चय का भाव पढ़कर बताया, "जब तक व्यक्ति की 'तुरीय अवस्था' नहीं होती, तभी तक वह संसार के बन्धनों से बंधा हुआ होता है, तभी तक वह देह व्यापार से आबद्ध होता है, तभी तक उसे राग-द्वेष आदि व्याप्त होते रहते हैं। मगर जिस क्षण वह यह समझता है कि सारा ब्रह्मांड उसके शरीर में समाहित है और वह उस ब्रह्मांड का संचालक-नियामक है, एक प्रकार से वह उसमें ही विलीन है, तब किसी प्रकार का सन्देह अथवा असमंजस नहीं रहता।"

योगी हेतुक स्वामी के पूछने पर कि क्या प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में सम्पूर्ण ब्रह्मांड निहित है, स्वामी जी ने उत्तर दिया, "निश्चय ही श्रीकृष्ण ने तो केवल उस सत्य का दिग्दर्शन ही कराया था, क्योंकि वे गृहस्थ होते हुए भी सही अर्थों में योगीराज थे।"

"गीता मेरे इस कथन की साक्षी है कि जब मोहान्ध अर्जुन किसी भी प्रकार से युद्ध करने के लिए तैयार नहीं हुआ, तब श्रीकृष्ण ने अपना मुंह खोलकर उस विराट स्वरूप को दिखा दिया कि यह समस्त ब्रह्मांड मेरे अन्दर निहित है। सही अर्थों में यह समस्त ब्रह्मांड श्रीकृष्ण के शरीर में ही नहीं, अपितु प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में सन्निहित है। आवश्यकता है उसे योग बल से देखने की और दिखाने की। जब ऐसा भाव, जब ऐसी अवस्था व्यक्ति की हो जाती है, तभी वह सही अर्थों में तुरीयावस्था का आनन्द प्राप्त करता है।"

अपनी व्याख्या को और ज़्यादा स्पष्ट करते हुए गुरुदेव ने कहा, "यह समस्त ब्रह्मांड मुझमें और आपमें समान रूप से विद्यमान है। इसलिए आपमें, मुझमें या किसी मक्खी-मच्छर में कोई अन्तर नहीं। सभी समान हैं, सभी एक-दूसरे से युक्त हैं। तभी तो श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा है कि जो मुझे सर्वत्र देखता है, वही सही अर्थों में योगी है। जो इस सूत्र को समझ लेता है उसके लिए फिर किसी प्रकार का कोई बन्धन नहीं रहता और ऐसा कहते-कहते योगीराज निखिलेश्वरानन्द जी ने अपने सीने को दोनों हाथों से पकड़कर फैला दिया जैसे कि कोई बहुत बड़ा सिनेमा का पर्दा सामने तन गया हो और सभी संन्यासियों ने अवाक होकर देखा कि समस्त भूमंडल, सामने के पर्दे पर व्याप्त है। एक दृश्य के बाद दूसरा दृश्य, और इस प्रकार निरन्तर दृश्य हमारी आंखों के सामने घटित होते रहे। ऐसा लगा जैसे हम सिनेमा हाल में बैठे-बैठे कोई फ़िल्म देख रहे हों।

और हमने उस वक्षस्थल पर प्रतिबिम्बित, कल्पित पर्दे पर देखा कि कनखल का सुरम्य गंगा घाट है, पास में ही भगवती गंगा कलकल करती हुई बह रही है, और उसकी रेत पर ही एक आसन पर पूज्य गुरुदेव निखिलेश्वरानन्द जी बैठे हुए हैं और सभी संन्यासी बैठे हुए गीता के प्रवचन को तन्मय होकर सुन रहे हैं, देख रहे हैं। उस पर्दे पर साफ़-साफ़ दिखाई दिया कि उन सुनने वाले संन्यासियों में मैं भी बैठा हुआ हूं। हूबहू वही दृश्य था जिस दृश्य के हम साक्षीभूत थे या जो क्षण हमारे साथ घट रहा था हम जहां बैठे हुए थे, हम जो कुछ कर रहे थे, वह सब-कुछ उनके वक्षस्थल पर हम सब साफ़-साफ़ देख रहे थे।

और कुछ मिनटों बाद उन्होंने अपने वक्षस्थल को हाथों से सिकोड़ लिया और उसे पूर्वावस्था में ले आए। दृश्य समाप्त हो गए थे, पर उन कुछ क्षणों में हमने जो कुछ देखा था, वह अद्भुत आश्चर्यजनक था। गीता में भगवान कृष्ण ने 'यो मां पश्यति सर्वत्र' का जो चिन्तन प्रस्तुत किया था, वह हमारे सामने साकार था। वस्तुतः यह पूरा ब्रह्मांड जब हममें समाहित है, तब फिर हमारी अलग स्वतन्त्र सत्ता होना सम्भव ही नहीं है।

उस दिन पहली बार श्रीमद्भगवद्गीता के 'निराकार' और 'साकार' शब्दों का अर्थ समझ में आया। पहली बार यह समझ में आया कि व्यक्ति स्वयं विश्वरूपात्मक है। और यदि वह चाहे तो सम्पूर्ण विश्व में घटित घटनाओं का साक्षीभूत हो सकता है, उसमें हस्तक्षेप कर सकता है, और उन घटनाओं का नियमन-संगठन कर सकता है।

पर उसके लिए चाहिए योगबल एवं योगसिद्धि। इसके द्वारा ही व्यक्ति में सर्वात्मकता आ सकती है।

गन्ध रक्षा

मेरी बहन दया, जो मुझसे छोटी है, काफ़ी बीमार हो गई थी और उसी मकान में अलग कमरे में सोती थी। मैं बीमारी का इलाज करने व अन्य सांसारिक छोटे-मोटे कार्यों के लिए गुरुदेव को कष्ट देना उचित नहीं समझता था।

हम सबको यह लगने लगा कि अब दया किसी भी हालत में बचेगी नहीं, मेरे माता-पिता व्याकुल हो गए थे, उसके पति एक तरफ़ दुःखी-से खड़े थे, दया भी मृत्यु की पदचाप निकट ही अनुभव कर रही थी और उसके चारों ओर छोटे-छोटे बच्चे पलंग पर पास बैठे हुए थे।

उस रात्रि को लगभग ग्यारह बजे मैं अपने पूजा-कक्ष में गुरुदेव स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी के चित्र के सामने बैठ गया। मेरी आंखों में आंसू भरे थे, गला रुद्ध हो गया था और होंठों से आवाज़ निकल नहीं रही थी।

मैंने अस्फुट स्वर में इतना ही कहा, "गुरुदेव, यह क्या लीला कर रहे हैं, आज रात्रि को यदि आपने ध्यान नहीं दिया, तो दया चली जाएगी। उसके जाने का मुझे कोई दुःख नहीं, परन्तु उसके छोटे-छोटे बच्चे सर्वथा अनाथ हो जाएंगे?" और न मालूम मैं अपनी ही रौ में क्या-क्या कह रहा था।

इस प्रकार लगभग एक घंटा व्यतीत हो गया। अचानक मुझे भान हुआ और ऐसा लगा जैसे दया पुकार रही हो। मैं तुरन्त पूजा-कक्ष से बाहर निकलकर उस कमरे की तरफ़ बढ़ गया, जहां दया लेटी हुई थी। पलंग के नीचे ही चारों बच्चे सो रहे थे और पलंग की पाटी से सिर लगाए उसके पति बैठे हुए थे।

मेरे अन्दर जाते ही दया मुस्कुरा पड़ी, बोली, "भइया, अभी-अभी गुरुदेव आए और मुझे ये गोलियां देकर गए हैं। कहा है, एक-एक घंटे से गोली लेते रहना, सुबह तक तुम ठीक हो जाओगी।" कहते-कहते उसने दाहिने हाथ की बन्द मुट्ठी को खोल दिया। मैंने देखा कि उसमें दस-बारह गोलियां पड़ी हुई थीं, पर ऐसी गोलियां तो बाज़ार में नहीं मिलतीं। वे षट्कोणीय गोलियां विचित्र प्रकार की ही थीं।

उस रात एक-एक घंटे से हम बराबर गोली दया को देते रहे। सुबह तक वह पूरी तरह से ठीक हो गई थी। उसे कमजोरी तो थोड़ी महसूस हो रही थी, परन्तु रोग का नामोनिशान नहीं था।

इसके बाद उसका स्वास्थ्य तेज़ी के साथ सुधरने लगा और सप्ताह-भर में ही वह मरणासन्न दया आंगन में घूमने लगी। घर के काम-काज करने लगी, शरीर में और चेहरे पर ख़ून की लालिमा दिखाई देने लगी।

मृत्यु निवारण

उस समय हम सब अमरनाथ यात्रा पर थे। अमरनाथ विश्व का एकमात्र ऐसा शिवलिंग है, जो प्रकृति निर्मित स्वतः बर्फ़ से बनता है। ऊपर से बूंद-बूंद पानी टपकता है और इससे उस शिवलिंग का निर्माण होता है।

कभी-कभी तो यह शिवलिंग मात्र चार-पांच इंच का ही बनकर रह जाता है, मगर कभी इसकी ऊंचाई तीन-चार फ़ुट की हो जाती है। वर्ष में एक बार यात्री यहां आते हैं। श्रावण पूर्णिमा के अवसर पर हज़ारों की संख्या में लोग झुंड-के-झुंड बनाकर 'अमरनाथ की जय' का घोष करते हुए अमरनाथ के दर्शन करने के लिए पहुंचते हैं।

श्रीनगर से पहलगांव, वहां से चन्दनवाड़ी, पिस्सूघाटी, सहस्रनाग होते हुए यात्री दुर्गम पहाड़ों को पार कर अमरनाथ के मन्दिर तक पहुंचते हैं। यह सारा रास्ता ख़तरनाक और बीहड़ है। अब तो इस रास्ते पर छोटी-मोटी सड़क बन गई है, पर उस समय किसी प्रकार की कोई पगडंडी भी नहीं थी। जिनको इस रास्ते का ज्ञान था, वे ही अमरनाथ मन्दिर तक पहुंच सकते थे।

हमने श्रावण पूर्णिमा से लगभग दस-पन्द्रह रोज़ पहले मन्दिर में जाने का निश्चय किया। पूर्णिमा के अवसर पर बहुत अधिक भीड़ हो जाती है, तब भगवान अमरनाथ के दर्शन सुविधाजनक नहीं हो पाते। इसीलिए हमने कुछ पहले ही पहुंचकर शंकर के दर्शन करने चाहे थे।

हमारे साथ ही बम्बई के ब्रजमोहन जालान व उनकी पत्नी भी थी। दोनों ही शिव के भक्त और गुरुदेव के उपासक थे। कई वर्षों से उन्होंने स्वामी जी को कह रखा था कि जीवन में एक बार अमरनाथ जाने की इच्छा है और वह भी आपके साथ।

कश्मीर में पहलगांव अत्यन्त ही सुन्दर और रमणीय स्थान है। लिद्दर नदी के किनारे बसा हुआ यह छोटा-सा क़स्बा संसार के श्रेष्ठ स्थलों में से एक है।

जालान जी ने कहा, "मेरी पत्नी दमा व मधुमेह से पीड़ित है और डॉक्टरों

ने अपने शब्दों में इस यात्रा के लिए मना किया है, उन्होंने तो चेतावनी दी है कि यदि इतनी ऊंचाई पर यात्रा की तो कोई भी अघटित घटना घट सकती है।"

स्वामी जी ने एक क्षण सुमित्रा की ओर देखा। उसकी आंखों में कातरता थी और हृदय में आशंका थी कि कहीं स्वामी जी यात्रा में साथ चलने के लिए मना न कर दें। उनकी इस जिज्ञासा और उत्सुकता को ध्यान में रखकर गुरुदेव ने सुमित्रा को साथ चलने की आज्ञा दी।

हम सब चल पड़े। सहस्रनाग के पास आते-आते सुमित्रा की तबीयत ख़राब होने लगी। यह स्थान काफ़ी ऊंचाई पर है और यहां ऑक्सीजन का दबाव बहुत कम होने से श्वास लेने में कठिनाई होने लगती है। दमा के रोगियों को तो इस तरफ़ आना ही नहीं चाहिए। जब सुमित्रा की ख़राब तबीयत का समाचार गुरुदेव को लगा, तो उन्होंने कोई विशेष ध्यान नहीं दिया।

यहां से आगे चलने पर धीरे-धीरे उसकी तबीयत ख़राब होती चली गई। हमने पिट्ठू वाले से एक घोड़ा किराए पर किया, जिस पर सुमित्रा को बिठा दिया, परन्तु फिर भी उसके स्वास्थ्य में किसी प्रकार का सुधार नहीं हो रहा था। स्वामी जी पीछे सहस्रनाग में ही रह गए थे। वे सहस्रनाग झील के उस पार स्थित संन्यासी शिष्यों से सम्पर्क स्थापित कर दूसरे रास्ते से सीधे अमरनाथ पहुंचने को कहकर हमको आगे रवाना कर दिया था, जिससे कि हम धीरे-धीरे रास्ता पार कर सकें।

वहां पहुंचने पर आनन्द और हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। ऊंचाई पर स्थित यह मन्दिर पवित्र और दिव्य है। कहते हैं कि यहीं से पीछे की ओर कैलाश मानसरोवर का रास्ता जाता है। भगवत्पाद शंकराचार्य इसी रास्ते से कैलाश मानसरोवर गए थे।

मगर हमारे हर्ष और प्रसन्नता पर अचानक अंकुश लग गया। हमने देखा कि धीरे-धीरे सुमित्रा की हालत ज्यादा-से-ज्यादा खराब होती जा रही है, उसे मन्दिर के प्रांगण के बाहर ही लिटा दिया। उसके पति लगभग विक्षिप्त-से खड़े थे। हम सब दुःखी और उदास होकर भगवान शंकर से प्रार्थना कर रहे थे और इसके अलावा हमारे पास चारा ही क्या था? गुरुदेव अभी तक आएं नहीं थे और हम पल-प्रतिपल उनका इन्तज़ार कर रहे थे।

तभी एक सम्भ्रान्त-से दिखने वाले व्यक्ति ने आकर मरणासन्न सुमित्रा को देखा। वे कलकत्ता के अगरतला स्थित डॉ. ए. के. चटर्जी थे। उन्होंने थोड़ी-सी ऑक्सीजन सुमित्रा को दी और औषधि भी दी, परन्तु धीरे-धीरे सुमित्रा की नाड़ी की गति मन्द होती जा रही थी।

तभी अचानक दौड़ते हुए-से गुरुदेव आ पहुंचे। ऐसा लग रहा था जैसे वे क़रीब दो-तीन मील से दौड़े चले आ रहे हैं। संन्यासी शिष्य तो बहुत पीछे रह गए। उन्होंने सुमित्रा को देखा और सब-कुछ समझ गए।

गुरुदेव सुमित्रा के दाहिनी ओर बैठ गए, उनका चेहरा भगवान अमरनाथ के शिवलिंग की ओर था। सिर की बंधी हुई जटाएं खुलकर चारों ओर बिखर गई थीं, हाथ का कमंडल उन्होंने एक तरफ़ फेंक दिया था और आंखों से चिनगारी-सी निकल रही थी, मानो कह रहे हों, "मृत्यु की इतनी हिम्मत कि भगवान शिव के प्रांगण से ही सुमित्रा को उठाकर ले जाए।"

एक बार उन्होंने सुमित्रा को ध्यान से देखा और उनके मुंह से सहसा फूट पड़ा —

चन्द्रशेखर चन्द्रशेखर चन्द्रशेखर पाहि माम्।
चन्द्रशेखर चन्द्रशेखर चन्द्रशेखर रक्ष माम् ॥
रत्नसानुशरासनं रजताद्रिशृंगनिकेतनं,
सिंजिनीकृत-पन्नगेश्वरमच्युताननसायकम्।
क्षिप्रदग्धपुरत्रयं त्रिदिवालयैरपि विन्दतं,
चन्द्रशेखरमाश्रये मम किं करिष्यति वै यमः॥1॥
पंचपादपुष्पगन्धपदाम्बुजद्वय शोभितं,
भाललोचनजातपावक दग्धमन्मथविग्रहम्।
भस्मादिग्ध-कलेवरं भवनाशनं भवमव्ययं,
चन्द्रशेखरमाश्रये मम किं करिष्यति वै यमः॥2॥
मत्तवारणमुख्यचर्मकृतत्तरीय-मनोहरं,
पंकजासन-पद्मलोचन-पूजिताङिघ्रसरोरुहम्।
देवसिन्धु-तरंग सीकर-सेक्त-शुभ्रजटाधरं,
चन्द्रशेखरमाश्रये मम किं करिष्यति वै यमः॥3॥
यक्षराजसखं भगाक्षहरं भुजंग-विभूषणं,
शैलराजसुतापरिष्कृतचारुवामकलेवरम्।

क्ष्वेडनीलगलं परश्वधधारिणं मृगधारिणं,
चन्द्रशेखरमाश्रये मम किं करिष्यति वै यमः॥4॥
कुंडलीकृत-कुंडलेश्वर-कुंडलं वृषवाहन,
नारदादिमुनीश्वरस्तुतवैभवं भुवनेश्वरम्।
अन्धकान्धकमाश्रितामरपादपं शमनान्तक,
चन्द्रशेखरमाश्रये मम किं करिष्यति वै यमः॥5॥
भेषजं भवरोगिणामखिलापदामपहारिणं,
दक्षयज्ञविनाशनं त्रिगुणात्मकं त्रिविलोचनम्।
मुक्ति-मुक्ति फलप्रदं सकलाघसंघनिर्वहणं,
चन्द्रशेखरमाश्रये मम किं करिष्यति वै यमः॥6॥
भक्तवत्सलमर्चित निधिमक्षयं हरिदम्बर,
सर्वभूतपति परात्परमप्रमेयमनुत्तमम्।
सोम-वारिद-भू हुताशन-सोमपानिलखाकृति,
चन्द्रशेखरमाश्रये मम किं करिष्यति वै यमः॥7॥
विश्वसृष्टिविधायिन पुनरेव पालनतत्पर,
संहरन्तमपि प्रपंचमशेषलोकनिवासिनम्।
क्रीडयन्तमहर्निशं गणनाथयूथसमन्वितं,
चन्द्रशेखरमाश्रये मम किं करिष्यति वै यमः॥8॥
मृत्युभीत-मृकंड-सुनु'-कृतस्तवं शिवसन्निधौ,
यत्र कुत्र च यः पठेन्नहि तस्य मृत्युभय भवेत्।
पूर्णमायुररोगितामखिलार्थसम्पदमादरं
चन्द्रशेखर एव तस्य ददाति मुक्तिप्रयत्नतः ॥9॥

और इसके तुरन्त बाद ही वे सुमित्रा की नाड़ी पकड़कर तारक मन्त्र का करने लगे। उनकी आंखें बन्द थीं, पूरा शरीर धीरे-धीरे गर्म हो रहा था और से 'तारक मन्त्र' निरन्तर उच्चरित हो रहा था।

अकस्मात सुमित्रा के शरीर में कम्पन हुआ, ऐसा लगा जैसे शरीर हिल है, हम सबकी प्रसन्नता का पार नहीं था, और चटर्जी महोदय तो विश्वास हीं कर पा रहे थे कि मुर्दे शरीर में कम्पन हो सकता है।

मैंने देखा कि गुरुदेव इन सबसे बेख़बर नेत्र बन्द किए बराबर कोई विशेष उच्चारित कर रहे हैं, जैसे कि अन्तरिक्ष में भटकती हुई सुमित्रा की आत्मा

को खींच कर ला रहे हों। उनके चेहरे के तनाव से ऐसा स्पष्ट आभास हो रहा था।

लगभग पन्द्रह-सोलह मिनट बीत गए। सुमित्रा ने धीरे से आंखें खोलीं। हम सभी शिष्यों ने एक स्वर से 'अमरनाथ की जय', 'गुरुदेव की जय' से मन्दिर का पूरा प्रांगण हिला डाला। गुरुदेव की आंखें खुलीं और सन्तोष की सांस ली।

इसके बाद तो सुमित्रा लगभग बत्तीस वर्षों तक जीवित रही और साल में दो बार पति के साथ गुरुदेव के चरणों में पहुंचती है। चाहे गुरुदेव कहीं पर भी हों। इसके बाद चटर्जी बाबू ने डॉक्टरी छोड़ दी थी और संन्यास धारण कर गुरुदेव से दीक्षा ले ली थी। गुरुदेव ने उनका संन्यासी नाम चित्तस्वरूपानन्द रखा।

वस्तु प्राप्ति

उन दिनों स्वामी जी, पटना में फ्रेजर रोड पर मुकुन्द बाबू के यहां ठहरे हुए थे। मुकुन्द बाबू कई वर्षों से गुरुदेव के गृहस्थ शिष्य थे और नियमित रूप से 'निखिलेश्वरानन्द-स्तवन' का पाठ करते थे। वे पेशे से डॉक्टर थे और उनकी प्रैक्टिस पटना में ठीक चल रही थी।

उनकी पुत्री कुछ समय से पीड़ित थी और उसके दोनों पैर पोलियो से ग्रस्त थे वह दस-ग्यारह वर्ष की बालिका अत्यधिक सुन्दर और भोली थी। सभी को प्रेम से बुलाती। उसकी बड़ी इच्छा होती कि गुरुदेव की सेवा करे। अपने हाथों से शर्बत बनाकर पिलावे, परन्तु लाचार थी और उसे इस लाचारगी का अनुभव था।

दूसरे दिन शाम को लगभग पांच बजे हम सब कमरे में बैठे हुए थे। स्वामी जी ने पूछा, "तुम लोगों के पास पोलियो की कोई औषधि नहीं है?"

मुकुन्द बाबू ने उत्तर दिया, "भारत में तो कोई औषधि है नहीं, सुना है कि इंग्लैंड में एक नई दवा ईजाद हुई है, जिसके लगाने से पोलियो ठीक हो जाता है।"

बाबा ने पूछा, "तुमने कभी आयुर्वेद उपचार किया?" मुकन्द बाबू ने कहा, "जितना और जो सम्भव हो सकता था, मैंने किया, पर उपाय कारगर नहीं हुआ।"

तभी उनकी लड़की पद्मा बोली, "बाबा, क्या मैं जीवन में कभी भी चल-फिर नहीं सकूंगी?"

बाबा ने उसी समय एक चादर मंगाई और उसे ओढ़कर लेट गए। मुझसे कहा, "मेरा शरीर बहुत ताप से जलने भी लगे, तब भी चिन्ता मत करना। मैं दो घंटों में ठीक हो जाऊंगा।" उन्होंने कमर तक चादर ओढ़ ली और घुटनों-घुटनों तक पैर खुले छोड़ दिए।

थोड़ी देर में देखा कि बाबा का शरीर अत्यधिक गर्म हो रहा है, इतना कि उसकी गर्मी हम पास बैठे शिष्य तक अनुभव कर रहे थे। साथ ही हमने आश्चर्य से देखा कि उनके दोनों पैर कमज़ोर होते जा रहे हैं। लगभग आधा घंटा बाद वे दोनों पैर सूख-से गए।

और उधर पद्मा की टांगों में कम्पन होने लगा था। लगभग आधा घंटा में ही उसे ऐसा लगा कि जैसे पैरों में ताक़त आ गई है और वह चल सकती है। पैंतालीस मिनट बाद उसने मुकुन्द बाबू से कहा, "मुझे उठाइए, मैं चलना सकती हूं।"

मैंने और मुकुन्द बाबू ने हाथ पकड़कर सहारा दिया। उसने पिछले सात वर्षों में पहली बार ज़मीन पर दोनों क़दम रखे। शुरू-शुरू में दोनों पैर लड़खड़ाए थे, परन्तु उसने पहला क़दम लड़खड़ाते हुए ही सही भरा। फिर दूसरा क़दम भरा, फिर ख़ुशी के मारे चीख़ उठी और चीख़ती हुई अपने पिता मुकुन्द बाबू से लिपट गई।

धीरे-धीरे उनके पांवों में पुनः पुष्टता आने लगी और दो घंटे बाद उन्होंने अपने हाथों से चादर हटाकर आंखें खोल दीं। उनका शरीर और उनके पैर ठीक वैसे ही थे जैसे पहले थे।

गुरुदेव के उठते ही सबसे पहले पद्मा उनके चरणों में गिर पड़ी।

गुरुदेव ने कहा, "पगली, शर्बत बनाकर नहीं लाएगी?"

गुरुदेव ने उसी दिन पटना छोड़ दिया। बाद में उन्होंने बताया कि 'मैं इस कठिन क्रिया को नहीं करना चाहता था, परन्तु जब पद्मा की बाल-सुलभ आवाज़ मेरे कानों में पड़ी कि 'क्या मैं कभी भी अपने पैरों से चल-फिर नहीं सकूंगी' तब मैं रह नहीं पाया और उसका सारा रोग अपने ऊपर ले लिया। बाद में 'पूर्णत्व विद्या' से उस रोग को समाप्त कर दिया।"

पद्मा देवी पटना में सम्भ्रान्त कुल में विवाहित है और आज अपने पति और पुत्रों के साथ सुखपूर्वक जीवनयापन कर रही है।

काशी के नीचे काशी

उन दिनों हम काशी में थे और नित्य गंगा स्नान कर कहीं पर पांच-छः घंटे साधना सम्पन्न करते। उन्हीं दिनों एक महात्मा आए वे नंग-धड़ंग से थे। दुबला-पतला शरीर मगर बड़ी-बड़ी आंखें और तेजस्वी चेहरा।

उन्हें देखते ही गुरुदेव उठ खड़े हुए और उनका स्वागत-सत्कार कर अपने पास ही बिठा लिया।

हम सबके लिए यह आश्चर्य था, परन्तु कुछ बोले नहीं। गुरुदेव ने हम सब शिष्यों को दूर चले जाने के लिए कहा और उन दोनों में लगभग आधे-पौने घंटे तक बातें होती रहीं। कुछ समय बाद वे महोदय उठकर चले गए।

हम सब दूर खड़े गंगा के किनारे कनखियों से गुरुदेव और उन महोदय को देख रहे थे। अनुमान कर रहे थे कि अवश्य ही यह कोई पहुंचा हुआ सिद्ध है। तभी गुरुदेव ने उठकर उनका स्वागत किया। जब गुरुदेव ने संकेत से हम लोगों को बुलाया, तो हम दौड़ते हुए उनके पास बैठ गए।

गुरुदेव ने कहा, "ये सिद्ध सन्त सोहन बाबा हैं, और पाताल काशी में रहते हैं।"

"पाताल काशी?" मैंने पूछा, "यह कहां है? काशी में तो कोई ऐसा स्थान सुनने को नहीं मिला।"

स्वामी जी हंस दिए, बोले, "ऊपर जो काशी बसी हुई तुम देख रहे हो उसी के नीचे भूगर्भ में एक पूरी की पूरी काशी बसी हुई है, जिसमें सिद्ध, सन्त, तपस्वी और महात्मा ध्यानस्थ हैं। असली गंगा तो वहीं पर बहती है और उसके

किनारे-किनारे ही उच्च कोटि के सन्त विद्यमान हैं। सोहन बाबा भी पाताल काशी के ही योगी हैं।

फिर इसका खुलासा करते हुए गुरुदेव ने कहा, "वहां तक जाने का कोई रास्ता या द्वार नहीं, अपितु साधना के बल पर ही विश्वनाथ की उस पाताल काशी में पहुंचा जा सकता है। वह भी ठीक उतनी ही लम्बी-चौड़ी है, जितनी कि ऊपर बसी हुई काशी। वहां पर उच्च कोटि के संन्यासी और योगी निरन्तर ध्यानस्थ हैं।"

बाद में कुछ विशेष साधनाओं के बाद कुछ शिष्यों को गुरुदेव उस पाताल काशी में भी ले गए थे। अद्भुत, अलौकिक, अवर्णनीय, तपश्चर्या से पूरित जहां हज़ारों-हज़ार योगी, संन्यासी, संन्यासिनियां ध्यानस्थ हैं और निरन्तर साधना में रत हैं।

सिद्धि दर्शन

उन दिनों हम काशी में ही निवास करते थे। नित्य दशाश्वमेध घाट जाते, गंगा स्नान करते और बाक़ी का सारा समय गुरुदेव के साथ साधना-सिद्धियों में ही व्यतीत करते।

एक दिन मेरे गुरु भाई प्रियंकु बाबा ने पूछा, "क्या सिद्धियों का चमत्कार उचित है?"

स्वामी जी ने उत्तर दिया, "जो साधनाएं सीख रहे हैं या जो सिद्धियों में प्रविष्ट हो रहे हैं उन्हें भूल करके भी चमत्कार प्रदर्शन में नहीं पड़ना चाहिए। इससे उनकी शक्ति क्षीण हो जाती है और साधना की तरफ़ उनका ध्यान नहीं रह पाता है, साथ-ही-साथ साधना क्षेत्र की एक मर्यादा है और इस मर्यादा का पालन प्रत्येक साधक, योगी या संन्यासी को करना ही चाहिए।

"जो साधना क्षेत्र में हैं, और गुरुवत नहीं बन सके हैं, उन्हें लोगों के उकसाने पर भी चमत्कार या सिद्धियों का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए। बहुत ही शान्त, सरल एवं सामान्य अवस्था में ही उन्हें रहना चाहिए। उनका जीवन इतना अधिक सामान्य होना चाहिए कि पड़ोसी को भी उनकी सिद्धियों के बारे में ज्ञान न हो सके।

"पर जो सिद्ध हैं, जिन्होंने सिद्धियों पर नियन्त्रण प्राप्त कर लिया है, वे चाहें तो समय-समय पर सिद्धियों का प्रदर्शन कर सकते हैं, पर इन सिद्धियों के प्रदर्शन में व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं होना चाहिए। अपना बड़प्पन, उच्चता या सिद्ध होने की प्रक्रिया के लालच में ऐसा प्रदर्शन करना उचित नहीं। हक़ीक़त भी यह है कि जो सही अर्थों में सिद्ध है वह न तो क्षुद्र हो सकता है और न स्वार्थी ही। उन्हें अहंकार भी व्याप्त नहीं हो सकता। वे तो परदुःखकातर होते हैं और दूसरों के दुःखों को दूर करने के लिए ही आवश्यकता पड़ने पर ऐसी सिद्धियों का प्रदर्शन कर लेते हैं।

"यदि संन्यासी किसी कारणवश गृहस्थ क्षेत्र में जाता है और वह जीवन में सिद्धियों पर अधिकार प्राप्त किया है, तब भी गृहस्थ जीवन में जाने पर उसे सिद्धियों का प्रदर्शन भूल करके भी नहीं करना चाहिए। चाहे लोग कितना ही अधिक उकसाएं, कुछ भी कहें, कभी-कभी अपमान, लांछन या तिरस्कार भी सहन करना पड़ सकता है। सभी स्थितियों में उसे संयत बने रहना चाहिए, और भूल करके भी चमत्कार प्रदर्शन नहीं करना चाहिए।"

मैंने पूछा, "क्या गृहस्थ में साधना सिद्धि प्रदर्शन अनुचित है?"

उन्होंने उत्तर दिया, "अनुचित तो नहीं है, परन्तु ये गृहस्थ लोग या गृहस्थ शिष्य क्षीण बुद्धि होते हैं। उनकी भावना-साधना की उच्चता या महत्ता नहीं होती, सीखने या प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की भावना नहीं होती, अपितु मूल में स्वार्थ सिद्धि या चमत्कार दर्शन ही होता है। यदि कोई गृहस्थ शिष्य चमत्कार दिखाने की बात कहे तो समझ लेना चाहिए कि यह क्षीण बुद्धि है और शिष्य बनने के योग्य नहीं है।"

मैंने पूछा, "शिष्य कैसे बनना चाहिए?"

उन्होंने कहा, "शिष्य बनने की प्रक्रिया नहीं है, यह तो स्वतः गुरु के प्रति अनुरक्ति है। पिछले जीवन में भी जिस गुरु से वह दीक्षा लिये हुए होता है, इस जीवन में भी वह उसी गुरु से अनुरक्त रहता है। हो सकता है कि भ्रमवश वह प्रारम्भ में किसी दूसरे संन्यासी या पाखंडी के पास चला जाए, हो सकता है कि कुछ समय के लिए भ्रमित हो जाए, परन्तु ऐसा होने पर भी उसके मन को शान्ति नहीं मिल पाती। ऐसे गुरुदेव से दीक्षा लेने पर भी चित्त में चंचलता बराबर बनी रहती है। मन में उद्विग्नता व तनाव विद्यमान रहता है।

"पर जब वह उसी गुरु के पास पहुंच जाता है, जो जन्म-जन्म से उसका गुरु होता है, तो उसे देखकर सहसा ऐसा अनुभव होता है कि इनका-मेरा कई-कई वर्षों का सम्बन्ध है, यद्यपि उन्हें पहली बार देख रहा हूं, परन्तु ऐसा लगता है कि इससे पूर्व भी उन्हें देखा है। उनके पास बैठने से उसे शान्ति मिलती है, मन में सन्तोष होता है, और हृदय में तृप्ति का अनुभव होता है।

"जब ऐसा अनुभव हो, जहां बैठने से शान्ति मिलती हो, जिनसे बात करने से अपनत्व का बोध होता हो, जहां चित्त की चंचलता समाप्त होती हो, उसी गुरु से दीक्षा या पुनः दीक्षा लेकर उनके बताए हुए पथ पर आगे बढ़ना चाहिए।"

मैंने पूछा, "फिर शिष्य क्या करे?"

उन्होंने उत्तर दिया, "शिष्य को कुछ करना ही नहीं होता। जो कुछ करना होता है वह गुरु करता है। शिष्य का तो केवल एक ही धर्म, एक ही कर्त्तव्य और एक ही चिन्तन होता है कि वह गुरु की आज्ञा का पालन करे। उसमें किसी प्रकार की हील-हुज्जत ना-नुकर न करे। किसी प्रकार का तर्क-वितर्क, सन्देह-असन्देह उत्पन्न होने पर समझ जाना चाहिए कि वह शिष्य बनने के क़ाबिल नहीं है। शिष्य का तात्पर्य यह है कि वह गुरु के निकट जाए, उनके हृदय के सन्निकट पहुंचे, इतना अधिक निकट पहुंच जाए कि अपने अस्तित्व का विसर्जन कर दे। उसे अपना कुछ होश ही न रहे। पूर्णरूपेण समर्पित चिन्तन ही शिष्य कहलाता है।

"यदि गुरु शिष्य को छत पर खड़ा कर दे और नीचे दहकता हुआ अग्निकुंड हो और गुरु शिष्य को छत से नीचे छलांग लगाने को कहे, तो उस शिष्य को एक क्षण का भी विचार नहीं करना चाहिए। बिना सोचे, बिना विचार किए उस दहकते हुए अग्निकुंड में कूद जाना ही शिष्यता है।"

"पर ऐसी आज्ञा गुरु देगा ही क्यों?"

स्वामी जी ने उत्तर दिया, "यह गुरु का कार्य है कि उसे क्या आज्ञा देनी है और क्या आज्ञा नहीं देनी है। गुरु का कोई भी आदेश अकारण नहीं होता। उसके पीछे कोई-न-कोई चिन्तन अवश्य होता है और वह चिन्तन शिष्य के हित में होता है। गुरु का एकमात्र उद्देश्य पूर्ण रूप से शिष्य को सभी दृष्टियों से योग्य एवं सम्पन्न बनाना है और इसके लिए वह बराबर यत्न करता रहता है।

"जिस प्रकार सुनार सोने को बार-बार अग्नि में डालता है, लाल सुर्ख़ करता

है, और बाहर लाकर हथौड़े से पीटता है, फिर उसे अग्नि में डालता है, फिर बाहर निकालकर पीटता है, ऐसा होने पर ही वह स्वर्ण देव-मुकुट बनता है, देवताओं के सिर पर चढ़कर बैठता है। शिष्य को भी स्वर्णवत होना चाहिए। गुरु उसे अग्नि में तपाए या हथौड़े से चोट करे, वह बिल्कुल ना-नुकर नहीं करे, अपितु अपने लक्ष्य-पथ पर बराबर गतिशील बना रहे, ऐसा होने पर ही वह शिष्य आगे चलकर प्रसिद्ध योगी बन सकता है।"

"इसीलिए गृहस्थ शिष्य सामान्य शिष्य ही बनकर रह जाता है। गुरु की कसौटी उसकी स्वयं की ही कसौटी होती है। उसका धर्म है कि उस कसौटी पर शिष्य को कसे। गृहस्थ में भी ऐसे आत्मसमर्पित शिष्य होते हैं, जो पूर्ण रूप से अपने-आप को समर्पित कर देते हैं। उनका खुद का कोई भी विचार, कोई इच्छा या चिन्तन नहीं होता। वे पूर्ण रूप से गुरुमय हो जाते हैं और आगे चलकर ऐसे ही गृहस्थ शिष्य योगी हो पाते हैं।"

उन्होंने बात को स्पष्ट करते हुए बताया, "पूर्ण सिद्धियां और सिद्धता प्राप्त करने के लिए यह ज़रूरी नहीं है कि संन्यास ही लें। श्रीकृष्ण पूर्णतः गृहस्थ थे, मगर फिर भी योगीराज कहलाए। गृहस्थ में रहकर भी जो असम्पृक्त रहता है, जो सही अर्थों में गुरु को ही अपना इष्ट, सखा, मित्र, माता, पिता, भाई, बहन, ईश्वर और सब-कुछ मान लेता है, वही सही अर्थों में योगी होता है, कपड़े बदलने या भभूत लगाने से ही कुछ नहीं हो जाता।"

बात का समापन करते हुए गुरुदेव ने कहा, "ऐसा ही शिष्य गुरु के चित्त पर अंकित होता है। और गुरु का सारा ज्ञान और उनकी समस्त सिद्धियां स्वतः इसे प्राप्त हो जाती हैं, जिससे वह सही अर्थों में सिद्ध बनकर पूरे विश्व का कल्याण करने में समर्थ हो पाता है।"

सिद्धाश्रम-सम्बन्ध

सिद्धाश्रम विश्व का एक अद्वितीय सिद्धस्थल है, जो कि कैलास मानसरोवर से उत्तर की ओर स्थित है। वायुयान या अन्य माध्यमों से उसे देखना सम्भव नहीं है, क्योंकि वह पूर्णतः सिद्ध पीठ स्थल है। जहां कई सौ वर्ष आयु प्राप्त योगी साधनारत हैं।

कई सौ मील भूभाग में फैला हुआ यह स्थान अद्वितीय तपस्या भूमि है, जिसे प्राप्त करने के लिए और जिसमें भाग लेने के लिए उच्च कोटि के सन्त, योगी और साधु तरसते रहते हैं। वैदिक काल से लेकर आज तक इसका बराबर अस्तित्व बना रहा है। कुछ योगी तो यहां कई हज़ार वर्ष की आयु प्राप्त हैं।

वशिष्ठ, विश्वामित्र, अत्रि, कणाद, पुलस्त्य ऋषि आज भी इस सिद्धाश्रम में सशरीर विचरण करते हुए देखे जा सकते हैं। इस सिद्ध भूभाग में योगीराज भगवान श्रीकृष्ण, महाभारत काल के द्रोणाचार्य, भीष्म, युधिष्ठिर आदि योगीजन भी विचरण करते हुए स्पष्ट दिखाई देते हैं। ठीक उसी प्रकार जैसे कि हम अपने पास बैठे हुए या आसपास विचरण करते हुए व्यक्तियों को देखा करते हैं।

इसके अतिरिक्त कई अज्ञातनामा योगी यहां साधनारत हैं। कुछ योगी तो कई सौ वर्षों से ध्यानस्थ हैं, जिनके ऊपर मिट्टी की परत जम गई है। दूर से देखने पर ऐसा लगता है कि कोई मिट्टी का ढूहा हो। परन्तु उनमें से दो चमकती हुई आंखों को देखकर ही विश्वास करना पड़ता है कि ये मात्र ढूहे नहीं, अपितु जीवन्त योगी हैं, जो साधनारत हैं। जिनकी आंखों की पुतलियां बराबर घूमती रहती हैं, उसी से उनके जीवन्त होने का आभास होता है।

केवल योगी, साधु और संन्यासी ही नहीं, अपितु संन्यासिनियां और

योगिनियां भी इस सिद्धाश्रम में विचरण करती हुई दिखाई देती हैं। यहां पर किसी प्रकार का कोई द्वेष, छल, कपट, व्यभिचार, असत्य और अविवेक नहीं, अपितु सभी अपने-आप में मग्न हैं। सभी साधना के क्षेत्र में उन्नति की ओर चिन्तनशील हैं, सभी के मन में प्रकृति के अज्ञात रहस्यों को समझने की भावना है, सभी अपने जीवन को उन्मुक्त करने की ओर अग्रसर हैं।

यहीं पर सिद्ध योगा झील अपने-आप में दिव्य, मनोहर और अद्वितीय है। मीलों लम्बी प्रकृतिनिर्मित इस झील का पानी निरन्तर बहता हुआ निर्मल, स्वच्छ और स्फटिक के समान है। यदि उसकी तलहटी में कोई सिक्का या पत्थर डाल दिया जाए, तो वह भी साफ़-साफ़ दिखाई देता है। इसका पानी इतना अधिक स्वच्छ है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

शीतलता और पवित्रता की दृष्टि से यह जल अद्वितीय है, इस जल को स्पर्श करने से ही सारा शरीर दिव्य, पवित्र और अलौकिक हो जाता है। इस जल की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि इसमें स्नान करने से वृद्धता और रोग स्वतः समाप्त हो जाते हैं।

सिद्ध योगा झील के किनारे-किनारे स्फटिक से निर्मित नावें पड़ी हैं, जिन्हें लेकर कोई भी योगी या साधक झील में विचरण कर सकता है। किसी प्रकार का कोई बन्धन या रुकावट नहीं है। यहां हर साधक स्वतन्त्र है, निर्मुक्त है, निर्द्वन्द्व है, परन्तु फिर भी एक अनकहे नियमों से आबद्ध है।

सारा प्रदेश सुगन्धित पुष्पों से आच्छादित है। सारी धरती मखमली हरी दूब और द्रुमों से भरी है। असंख्य प्रकार के पुष्प खिले रहते हैं, ये हमेशा तरोताज़ा, स्वस्थ और सुगन्धित बने रहते हैं। सिद्धाश्रम में कई कल्पवृक्ष हैं, जिनका पुराणों में प्रामाणिकता के साथ वर्णन है। इन कल्पवृक्षों के नीचे बैठकर साधक जो भी इच्छा प्रकट करता है, वह उसी समय पूर्ण हो जाती है।

यहां की सारी धरती एक विशेष सुगन्ध से भरी है। शीतल-मन्द बयार पूरे शरीर को रोमांचित कर देती है। जगह-जगह उच्च कोटि के साधु-सन्त तपस्या में निरत हैं। मीलों लम्बी सुन्दर पर्ण कुटियों को देखकर उनमें बैठने को जी चाहता है। कहीं पर स्फटिक पत्थरों से निर्मित सुन्दर भवन हैं, जो कि वशिष्ठ और विश्वामित्र के आश्रमों का स्मरण करा देते हैं। वास्तव में ही यह सारा भूभाग अपने-आप में अलौकिक और अद्वितीय है।

इतना होने पर भी यह ज़्यादा प्रकाश में नहीं आ सका, इसका कारण यह है कि यह आश्रम बहुत ही उच्च कोटि के साधकों का आश्रय स्थल रहा है। यहां इस आश्रम में कोई भी योगी, साधु या संन्यासी प्रवेश पा सकता है। यहां गृहस्थ पुरुष या स्त्री प्रवेश पा सकते हैं। किसी को भी किसी प्रकार का बन्धन नहीं है, केवल इसमें प्रवेश के लिए जो नियम हैं, उनका पालन होना अनिवार्य है।

जो साधना क्षेत्र में उन्नति की ओर है, जो दस महाविद्याओं को सिद्ध कर चुका है और जिसकी कुंडलिनी और सहस्रार जाग्रत हो चुके हैं, वह शाम्भवी दीक्षा प्राप्त कर अपने गुरु के साथ इस सिद्धाश्रम में सुविधापूर्वक प्रवेश पा सकता है। पर इसके लिए यह भी आवश्यक है कि ऐसे साधक का वही गुरु हो जो सिद्धाश्रम संस्पर्शित हो, जो सिद्धाश्रम जा चुका हो, बिना उसकी अनुमति या अनुमोदन के साधक सिद्धाश्रम में प्रवेश पा ही नहीं सकता।

कई हज़ार वर्ष की आयु प्राप्त योगीश्वर परमहंस स्वामी सच्चिदानन्द जी इसके संचालक और नियामक हैं। वैदिक काल से उनका अस्तित्व बराबर विद्यमान रहा है। उच्च कोटि के ग्रन्थों में उनका नाम अत्यन्त ही आदर के साथ लिया जाता है। इतने वर्षों की आयु प्राप्त होने पर भी इनमें गति एवं त्वरिता है। भीष्म पितामह, कृपाचार्य, वशिष्ठ और विश्वामित्र जैसे ऋषि भी इस महायोगी की अभ्यर्थना करते हैं। इनके चरणों में बैठकर प्रकृति और ब्रह्म के उन सूत्रों की व्याख्या समझाते हैं, जिनको वेदों ने भी नेति-नेति कहकर छोड़ दिया है, यहीं पर भगवत्पाद शंकराचार्य, गोरखनाथ जैसे योगियों को भी महायोगी के प्रवचन सुनते हुए अनुभव किया है।

एक दिन सिद्धाश्रम की चर्चा चलने पर गुरुदेव बोले, "जीवन का परम सौभाग्य ही सिद्धाश्रम पहुंचना है। यदि मानव जन्म लेकर भी सिद्धाश्रम नहीं जा सके, तो यह जीवन ही अकारथ चला जाता है। यद्यपि जगत में ढोंग बढ़ गया है और कई संन्यासी अपने-आप को सिद्धाश्रम का सिद्धयोगी कहने लगे हैं, परन्तु यह असत्य ज़्यादा देर तक छिपा नहीं रह सकता। बातचीत से व चेहरे की तेजस्विता से इस बारे में पता चल जाता है।

"इस देश में कई संन्यासी उच्च कोटि के हैं, जो सिद्धाश्रम जा चुके हैं और वहां से पुनः गृहस्थ में आ पाए हैं। उनके चरणों में बैठकर उनके बताए हुए रास्ते पर चलकर सफलता पाई जा सकती है और सिद्धाश्रम पहुंचा जा सकता है।"

मैंने पूछा, "कई ग्रन्थों में ज्ञानगंज की चर्चा आई है, यह कहां है?"

स्वामी जी ने उत्तर दिया, "ज्ञानगंज, सिद्धगंज या सिद्धाश्रम एक ही नाम हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं है।"

"क्या कोई गृहस्थ अपनी पत्नी के साथ जा सकता है?"

स्वामी जी ने उत्तर दिया, "साधना के क्षेत्र में पति या पत्नी जैसा कोई शब्द नहीं होता। जो भी साधना करता है वह साधक होता है और साधक कुछ विशेष नियमों का पालन कर गुरु की अनुमति से सिद्धाश्रम पहुंच सकता है। इसमें किसी प्रकार की सिफ़ारिश नहीं चल पाती।"

अपनी बात का और अधिक खुलासा करते हुए उन्होंने कहा, "सिद्धाश्रम से सम्पृक्त योगियों का सिद्धाश्रम से बराबर सम्बन्ध बना रहता है? वे, जब भी किसी वस्तु की आवश्यकता होती है, सिद्धाश्रम से मंगवा लेते हैं और वापस वहीं पर भिजवा देते हैं। सिद्धाश्रम स्थित कल्पवृक्ष की सहायता से किसी भी प्रकार की भौतिक सामग्री कुछ ही क्षणों में प्राप्त हो सकती है।"

इसका प्रमाण भी दो दिन बाद ही मिल गया। दोपहर का समय था। स्वामी जी अपनी मध्याह्न पूजा के लिए उठने ही वाले थे कि चक्रवर्ती बाबू आ गए। चक्रवर्ती महोदय कलकत्ता के रहने वाले थे और पूज्य गुरुदेव के परम शिष्य थे। कई वर्षों तक उन्होंने गुरु जी के साथ रहकर उनकी सेवा की थी। चक्रवर्ती महोदय तो विवाह करना ही नहीं चाहते थे, परन्तु गुरुदेव की आज्ञा से ही उन्होंने विवाह कर गृहस्थी बसाई थी।

चक्रवर्ती महोदय आते ही रो पड़े, बोले, "करुणा बहुत बीमार है, और हर क्षण आपका नाम जपती रहती है।" करुणा उनकी पत्नी का नाम था।

चक्रवर्ती महोदय ने दो हज़ार रुपए भी स्वामी जी के सामने रख दिए, कहा, "मैंने नियम बना रखा है कि आपके नाम का एक गोलक बनाया है और उसमें हम दोनों पति-पत्नी कुछ-न-कुछ डालते रहते हैं। इस बार जब गोलक खोला, तो उसमें दो हज़ार रुपए इकट्ठे हो गए थे। ये रुपए आपके लिए ही लाया हूं।"

स्वामी जी ने जवाब दिया, "मुझे तो इन रुपयों की जरूरत नहीं है, जिनको ज़रूरत हो उन्हें बांट दें।"

चक्रवर्ती महाशय ने कहा, "ये रुपए तो आपके निमित्त ही हैं। फिर मैं दूसरों को कैसे बांट सकता हूं?"

स्वामी जी ने दो क्षण सोचा और फिर कहा, "इन रुपयों को सिद्धाश्रम भेज दें।"

चक्रवर्ती महोदय ने कहा, "मैं कैसे भेज सकता हूं? मुझे तो इसकी कोई विधि ज्ञात नहीं है।"

स्वामी जी ने कहा, "इन रुपयों को अपनी मुट्ठी में बन्द कर लें और हाथ पैंट की जेब में डाल दें।" हमारे सामने चक्रवर्ती ने दो हज़ार रुपयों का बंडल मुट्ठी में लेकर पैंट की जेब में डाला और एक क्षण बाद ही जब स्वामी जी ने हाथ बाहर निकलने के लिए कहा, तो इनके हाथ में रुपए नहीं थे, अपितु चमेली के पुष्पों की माला थी।

चक्रवर्ती महोदय प्रसन्नता से खिल उठे। मैंने पूछा, "पैंट में हाथ रखते हुए आपको कुछ अनुभव हुआ था?"

उन्होंने जवाब दिया, "एक क्षण के लिए सनसनाहट तो हुई थी, परन्तु कुछ आभास नहीं हो सका। मुट्ठी में से रुपए निकल गए और उसमें चमेली के पुष्पों की माला आ गई।"

स्वामी जी ने उत्तर दिया, "तुम्हें जहां भेजने थे वे रुपए वहां पहुंच गए हैं। सिद्धाश्रम का कोई भी योगी इसी प्रकार से सामग्री भिजवा देता है या प्राप्त कर लेता है।"

फिर कुछ स्मरण करते हुए बोले, 'तूने करुणा की बीमारी के बारे में कहा था। तेरे हाथ में चमेली के पुष्प आए हैं, उन्हें घोलकर उसे पिला देना। निश्चित रूप से वह ठीक हो जाएगी।"

चक्रवर्ती महोदय प्रणाम कर अपने घर गए। एक सप्ताह बाद उनका टेलीग्राम मिला, "करुणा स्वस्थ है, आपको प्रणाम कहा है।"

मैंने पूछा, "यह सामग्री सिद्धाश्रम से आप तक कैसे पहुंचती है या आप उसे वहां किस प्रकार से भिजवाते हैं?"

स्वामी जी ने जवाब दिया, "कुछ विशिष्ट योगिनियां इसी कार्य के लिए

नियुक्त हैं, जो शून्य पथ से आती-जाती रहती हैं। प्रत्येक सिद्धाश्रम से संस्पर्शित योगी का भौतिक दृष्टि से सिद्धाश्रम से सम्पर्क और आदान-प्रदान इन योगिनियों के माध्यम से ही होता है। स्मरण करते ही वे उपस्थित हो जाती हैं और सेकंडों में ही कार्य सम्पादन कर देती हैं।"

सर्वत्र सत्ता

मेरे पिता जी अत्यधिक वृद्ध हो गए थे। उनसे चला भी नहीं जाता था। वे कहते थे कि शारीरिक कष्ट मैं भोग रहा हूं, यह मेरे इस जीवन या पूर्ण जीवन का हेतु होगा। अपने रोग के लिए गुरुदेव को कष्ट देना किसी भी प्रकार से उचित नहीं।

एक रात ज्यों ही वे आंगन के बीच में गुसलखाने में जाने वाले थे कि चक्कर खाकर गिर पड़े। दो मिनट बाद उनकी आवाज़ सुनाई दी। मैं और मां ने आवाज़ एक साथ ही सुनी। हम दोनों दौड़कर आंगन में पहुंचे, तो देखा कि वे एक तरफ़ झुके हुए खड़े हैं। यद्यपि आंगन के बीचोबीच कोई सहारा नहीं था, परन्तु उनके खड़े होने के ढंग से ऐसा लग रहा था जैसे वे कोई दीवार का सहारा लेकर खड़े हों। उनके दोनों हाथ आगे की ओर बढ़े हुए थे और कोहनियों के आगे हाथ किसी पर स्थिर थे।

ऐसी मुद्रा में उन्हें देखकर हम आश्चर्यचकित रह गए। मैंने पूछा, "आप इस प्रकार कैसे खड़े हैं?"

उन्होंने उत्तर दिया, "अभी-अभी गुरुदेव आए थे। मैं गुसलख़ाने में जा रहा था कि मुझे चक्कर आ गया और गिरने ही वाला था कि गुरुदेव ने हाथ पकड़कर सहारा दे दिया। मेरे सामने भी लकड़ी का तख़्ता रख दिया, जिस पर मैं हाथ टिकाए हुए खड़ा हूं।"

हमने अनुभव किया कि वातावरण में पद्म गन्ध व्याप्त है। "आपके आगे तो कुछ भी नहीं है?" मैंने उनके शून्य में टिके हुए हाथों के नीचे अपना हाथ घुमाते हुए कहा।

उन्होंने कहा, "अभी तक तो मेरे हाथ ठोस लकड़ी के तख़्ते पर टिके थे, तुम्हारे आने के बाद वह तख़्ता कहां चला गया कह नहीं सकता।" मैंने देखा कि जहां पर पिता जी खड़े थे, यदि वे बाईं तरफ़ या दाहिनी तरफ़ गिरते तो

उनके सिर पर भयंकर चोट आ जाती, क्योंकि घर में कुछ लकड़ी का काम चल रहा था और काम करने वाला बढ़ई आंगन में ही कीलें, लोहे के औज़ार आदि छोड़ गया था।

गुरुदेव की असीम कृपा देखकर मैं गद्गद हो गया। आज तो उन्होंने मेरे पिता को निश्चय ही अकाल मृत्यु से बचा लिया था। उनको स्वयं को कष्ट उठाना पड़ा। आवाज़ होने पर हम लोगों के आने से पूर्व ही पिता जी को इस प्रकार का सहारा भी दे दिया था, जिससे कि हमारे आने तक वे गिर न सकें।

इसके पांच-छः महीने बाद जब मैं पूज्य गुरुदेव से मिला और पूछा, "मैंने और पिता जी ने आपको आवाज़ ही नहीं दी, बुलाया ही नहीं, स्मरण भी नहीं किया, फिर भी आपको कैसे पता चल गया कि वे गिरने वाले हैं?"

उन्होंने उत्तर दिया, "योगियों की सत्ता सर्वत्र व्यापक होती है। वे प्रकृति से पूर्णतः तादात्म्य रखते हैं। फलस्वरूप कहीं पर भी कोई भी घटना घटित होती है, तो उनके चतुर्दिक ही घटित होती है और वे उस सत्ता से एकाकार होने की सतह से उसी क्षण वहां पहुंच जाते हैं।"

"तुम्हारे पिता जी आंगन में जा रहे थे। मैं भी उस समय स्नान करके लौट ही रहा था कि मैंने देखा वे गिर रहे हैं और मैंने हाथ का सहारा देकर गिरने से बचा लिया। जब उन्होंने तुम्हें आवाज़ दी और तुम कमरे से बाहर निकले उन्हें सहारा देकर मैं लौट आया था।"

"परन्तु उस समय जहां आप थे, वहां से मेरा घर दो हज़ार केलोमीटर दूर है।"

स्वामी जी ने जवाब दिया, "योगियों के लिए दूरी, काल और गति कोई मायने नहीं रखती। प्रकृति नित्य लीलास्वरूप होती है, और योगी का व्यक्तित्व पूरी प्रकृति में एकाकार होता है। इसलिए एक ही क्षण में वह तुम्हारे घर पर भी हो सकता है और यहां पर भी।"

"पर आपको उस दिन कितना कष्ट उठाना पड़ा होगा!"

"कष्ट तो गृहस्थों का शब्द है। योगियों के जीवन में इस शब्द का कोई अर्थ नहीं होता," उन्होंने कहा।

विषोका सिद्धि

उन दिनों हम मुरादाबाद में राय साहब हरिश्चन्द्र जी के यहां ठहरे हुए थे। जहां तक मुझे स्मरण है, इनकी कोठी पोस्ट ऑफ़िस के सामने बाईं ओर हटकर है। राय साहब अत्यन्त ही धार्मिक तथा दयालु प्रकृति के व्यक्ति थे। गुरुदेव पर उनकी अनन्य आस्था थी। राय साहब ने गुरुदेव से पूछा, "भगवान श्रीकृष्ण को योगीराज कहा जाता है, और हमने यह भी पढ़ा कि उन्होंने शरद पूर्णिमा की चांदनी रात में सैकड़ों गोपियों के साथ रासलीला खेली। यह सब तो सहज सम्भव हो सकता है, पर यह कैसे सम्भव है कि प्रत्येक गोपी के साथ एक-एक कृष्ण हो। एक व्यक्ति एक से ज़्यादा शरीर धारण कर सकता है? और जो अन्य शरीर धारण किए जाते हैं, क्या वे भी वैसे ही ठोस हाड़-मांस के दिखाई देते हैं जैसा कि मूल शरीर होता है?"

स्वामी जी ने उत्तर दिया, "शास्त्रों और पुराणों की बातें कल्पना नहीं हैं, उन पर सन्देह नहीं करना चाहिए।" उस दिन बात आई-गई हो गई।

नित्य प्रातः ग्यारह बजे गुरुदेव का भोजन का समय होता था। वे समय के पाबन्द थे, यह बात राय साहब जानते थे। भोजन की तैयारी हो गई और लकड़ी का बाजोट बिछाकर थाली व कटोरियां रख दी गईं। गुरुदेव के लिए आसन भी बिछा दिया। ग्यारह बज गए। ऊपर पांच-सात, दस और पन्द्रह मिनट बीत गए पर गुरुदेव का कोई पता नहीं था। ऐसा तो कभी होता नहीं, क्या बात है?

राय साहब मुझे लेकर उस कमरे में पहुंचे। हम दोनों ज्यों ही कमरे में पहुंचे तो देखा कि वह किसी अपरिचित व्यक्ति से बैठे हुए वार्तालाप में मग्न हैं।

उन्होंने हमें देखते ही कहा, "मैं आ रहा हूं, तुम दोनों पास वाले कमरे में चलो।"

हम दोनों पास वाले कमरे में पहुंचे। दरवाज़ा भिड़ा हुआ था। खोला तो अन्दर गुरुदेव बैठे हुए पत्र लिख रहे थे। गुरुदेव तो वहां पर वार्तालाप में मग्न थे, यहां कैसे पहुंच गए और पहुंचने के बाद पत्र भी लिखने बैठ गए!

गुरुदेव ने सिर उठाकर हमारी तरफ़ देखा और बोले, "अच्छा-अच्छा, भोजन का समय हो गया है? तुम लोग अगले कमरे में चलो, मैं आ रहा हूं।"

हम दोनों तुरन्त बाहर निकले और पुनः पहले वाले कमरे के पास पहुंचे। दरवाज़ा उढ़का हुआ था। झिर्री में से हमने देखा तो गुरुदेव अभी तक उस आगन्तुक से बातचीत करने में मग्न थे।

गुरुदेव की आज्ञानुसार हम तीसरे कमरे के पास पहुंचे, तो देखा कि दरवाज़ा खुला हुआ है और सामने तख़्त पर गुरुदेव बैठे हुए आम छील रहे थे। हमें देखकर बोले, "आओ, आओ, बड़े स्वादिष्ट आम हैं। तुम लोग भी खाओ।"

मैंने कहा, "आज सुबह जो कुछ देखा, उस पर सामान्य बुद्धि जन तो विश्वास कर ही नहीं सकता।"

स्वामी जी ने उत्तर दिया, "योग और साधनाएं सामान्य जन की वस्तु हैं ही नहीं। यह तो साधकों का ज्ञान है। वही प्रकृति को मां की तरह पाल सकते हैं, निर्वाह कर सकते हैं और अपने-आप में आत्मसात कर सकते हैं।"

फिर इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया कि "विषोका सिद्धि के माध्यम से ऐसा सम्भव है। एक व्यक्ति इस सिद्धि के माध्यम से चाहे तो सैकड़ों रूप धारण कर सकता है और वे सभी रूप असली, सही और प्रामाणिक होते हैं। इन सबमें परस्पर किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं होता। वे सभी रूप एक साथ ही बैठ सकते हैं और अलग-अलग स्थानों पर भी अलग-अलग कार्यों में संलग्न हो सकते हैं। इस सिद्धि के माध्यम से व्यक्ति चाहे तो हज़ारों रूप धारण कर सकता है। श्रीकृष्ण ने इसी सिद्धि के माध्यम से सैकड़ों रूप धारण किए थे और एक गोपी के साथ एक श्रीकृष्ण बने थे।"

सिद्धाश्रम महोत्सव

उस दिन सिद्धाश्रम संस्थापन महोत्सव था। लगभग सभी सिद्धाश्रम के योगी, यति, संन्यासी उपस्थित थे। देव प्रांगण पूरा-का-पूरा भरा हुआ था। जहां तक भी दृष्टि जाती, सिद्धाश्रम के योगी, संन्यासी और साधिकाएं ही दृष्टिगोचार होतीं। मंच पर विशिष्ट योगी अपने-अपने स्थानों पर बैठ गए। सारा वातावरण पवित्र, दिव्य और सुरभित हो रहा था।

एक तरफ़ से शून्य पथ से गन्धर्व अपने पूरे उपक्रमों के साथ प्रकट हुए और मंच के एक तरफ़ विनम्रतापूर्वक बैठ गए। दूसरी तरफ़ देवांगनाएं उर्वशी, मेनका, रम्भा आदि शून्य पथ से उतरकर अपने-अपने स्थानों पर बैठ गईं। सभी

योगियों ने पहली बार आश्चर्यचकित होकर यह सब-कुछ देखा। ऐसा तो पहले कभी नहीं हुआ था। इस समारोह में इन गन्धर्वों की क्या आवश्यकता? परम पूज्य योगीराज की अनुमति से गुरुदेव ने कार्यक्रम संचालन प्रारम्भ किया।

प्रारम्भ में देवांसु गन्धर्व ने मंगलाचरण प्रस्तुत किया। हिमवान गन्धर्व के द्वारा वाक्देवी स्तवन सम्पन्न होने के बाद, उर्वशी द्वारा विशिष्ट नृत्य 'सिद्धाश्रम-नित्य' को पूर्ण भाव-भंगिमा के साथ प्रस्तुत किया गया। लगभग डेढ़ घंटे का यह नृत्य अद्वितीय था। इसमें नृत्य के माध्यम से उर्वशी ने आर्यों के आगमन, सिन्धु नदी तट पर वेद-ऋचाओं का गायन, आर्यों की जीवन पद्धति, सिद्धाश्रम संस्थापन और उसकी विशिष्टता को जितनी पूर्णता और निर्दोषता के साथ सम्पन्न किया वह नृत्य के क्षेत्र में अद्वितीय था।

इसके बाद विशिष्ट योगियों ने एक वर्ष में जिन नवीन साधना रहस्यों को प्राप्त किया था, उन्हें प्रामाणिकता के साथ स्पष्ट किया और उन सिद्धियों की भी चर्चा हुई जिनके बारे में अभी शोध बाक़ी है।

तब से सिद्धाश्रम मुर्दे की तरह नहीं रहा, अपितु उसमें जीवन्तता आ सकी। हलचल और गति उत्पन्न हो सकी है। अनुशासनबद्ध आनन्द की हिलोर एक कोने से दूसरे कोने तक उठ सकी है, और आज जैसा सिद्धाश्रम हमारे सामने है, वह कई मायनों में भिन्न-सा है। अब वहां मरघट की-सी शान्ति नहीं, अपितु उल्लास है, आनन्द है। जीवन्तता और प्रसन्नता है, कहीं योगिनियां वार्तालाप में मग्न हैं, तो कहीं योगी साधना में निरत हैं, एक प्रकार से पूरा सिद्धाश्रम जीवन्त है, हलचलयुक्त है, मस्ती-भरा है और आनन्दयुक्त है।

इच्छाशक्ति और सिद्धियां

उन दिनों पूज्य गुरुदेव यमुनोत्री के पास बैठे हुए थे। हम लगभग डेढ़ सौ शिष्य उनके साथ थे। वे हमें आकाश-गमन प्रक्रिया की बारीकियां समझा रहे थे। बातचीत के प्रसंग में उन्होंने कहा, "इच्छाशक्ति अपने-आप में साधना का मूर्तिमन्त्र स्वरूप होता है। आवश्यकता इस बात की है कि आपकी इच्छा-शक्ति अपने-आप में दृढ़ और प्रबल हो। साधक चाहे तो अपनी इच्छाशक्ति के माध्यम से कुछ भी कर सकता है।"

मैंने पूछा, "क्या इच्छा मात्र से ही कार्य सम्पादित हो जाते हैं?"

स्वामी जी ने उत्तर दिया, "निश्चय ही, यदि आपमें दृढ़ इच्छाशक्ति हो।" फिर उन्होंने उदाहरण देते हुए बताया, "सामने पत्तों को बिछा दे और इस पर मनोवांछित वस्तु प्राप्ति की इच्छा कर ले।"

मैंने आसपास बिखरे हुए हरे पत्तों को एकत्र किया और बिछा दिया। फिर मैंने कहा, "मैं इस पर शुद्ध व्याघ्र-चर्म की इच्छा रखता हूं।" मैंने कुछ समय तक आन्तरिकता के साथ इच्छा उत्पन्न की और देखा, तो पत्तों के ऊपर कुछ नहीं था।

मैंने कहा, "मात्र इच्छा के द्वारा तो वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती।"

गुरुदेव ने पूछा, "तुमने क्या इच्छा की थी?"

मैंने कहा, "मैं सुन्दर व्याघ्र-चर्म चाहता था, जिसे अपने गुरुदेव को बिछाने के लिए समर्पित करूं। परन्तु इच्छा करने पर भी व्याघ्र-चर्म प्राप्त नहीं हो सका।"

स्वामी जी ने कहा, "एक बार पुनः नेत्र बन्द कर, पूर्ण शक्ति के साथ इच्छा करो। शायद तुम्हारा काम हो जाए।"

इस बार बाक़ी सब शिष्यों की आंखें खुली थीं, केवल मैंने नेत्र बन्द कर

इच्छा की और गुरुदेव ने एक पत्ता उठाकर उस जगह फेंका, जहां मैं बैठा हुआ था। हम सबने देखा कि उन बिछे हुए पत्तों पर सुन्दर व्याघ्र-चर्म किसी ने हौले से रख दिया है।

मैंने केवल एक सेकेंड के लिए ही आंखें बन्द की थीं। अपने सामने सुन्दर-आकर्षक निर्दोष व्याघ्र-चर्म पाकर प्रसन्नता से खिल उठा। मैंने गुरुदेव की तरफ़ देखा, तो उन्होंने बताया, "तुमने इच्छा ज़रूर प्रकट की थी, पर उसमें शक्ति का अभाव था। इच्छा और शक्ति के समन्वय से ही इच्छाशक्ति का निर्माण होता है और तभी कार्य सम्पादित होता है। इस इच्छाशक्ति के माध्यम से साधक कुछ भी सम्भव कर सकता है। वह प्रकृति में हस्तक्षेप कर अपना कार्य सम्पादित कर सकता है। मात्र कुशा से भी बालक का निर्माण हो सकता है जैसा कि वाल्मीकि ने किया।

फिर उन्होंने इच्छाशक्ति के मूल रहस्य को स्पष्ट किया और बताया कि जब साधक अन्तर्मुखी होकर प्रकृति से एकात्मकता स्थापित करता है, तो वही एकात्मकता बाह्य सृष्टि में निर्माण कर देता है। इसी को इच्छाशक्ति की पूर्णता कहा जाता है।

आत्मसिद्धि

एक बार गुरुदेव ने चर्चा के दौरान कहा, "जब तक आत्मसिद्धि नहीं हो जाती, तब तक पूर्णतः मुक्ति भी सम्भव नहीं है।" इसके साथ-ही-साथ उन्होंने यह भी जोड़ दिया कि "बिना आत्मसिद्धि के साधना में सफलता मिलना सन्दिग्ध ही रहता है।"

'साधना' और 'सिद्धि' शब्दों का अन्तर समझाते हुए उन्होंने कहा, " साधना शरीर को संयमित और आबद्ध करने की क्रिया है। यह शरीर ही सभी दृष्टियों से सिद्धियों का आधार बनता है। इसलिए योग के माध्यम से जब शरीर पूर्णतः नियन्त्रण में आ जाता है, तब देहसिद्धि और आत्मसिद्धि की राह प्रशस्त होती है।

"साधना के माध्यम से देहसिद्धि हो जाती है। देहसिद्धि में मस्तिष्क नियन्त्रण, आसन नियन्त्रण, चक्षु नियन्त्रण, श्वास नियन्त्रण, अधोभाग नियन्त्रण तथा पंचभूतात्मक नियन्त्रण होता है। इन समस्त नियन्त्रणों से ही शरीर साधना के लिए आधार बनता है। बिना शरीर को नियन्त्रित किए या बिना शरीर को अपने अनुकूल बनाए साधना में प्रवेश करने से कोई लाभ नहीं होगा।

" पर जब इन सबके बाद साधना क्षेत्र में साधक प्रवेश करता है, तब उसे

आत्मसिद्धि की ओर बढ़ना चाहिए। आत्मसिद्धि के लिए आत्मसत्ता की अखंडता और चिन्मयता की पूर्णता प्राप्त करनी चाहिए। इसके लिए कुंडलिनी जागरण आवश्यक है।

"कुंडलिनी जागरण से भी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है – क्रिया योग के माध्यम से दोनों नेत्रों को परस्पर संयोजित करना। शास्त्रों में वाम नेत्र को चन्द्रमा और दक्षिण नेत्र को सूर्य कहा है। इन दोनों में मूलभूत अन्तर है और इन दोनों में अन्तर होने से ही सृष्टि में विचित्रता दृष्टिगोचर होती है।

"सृष्टि में विविध और विचित्र दृश्य हैं। कोई भी दो पदार्थ या दो व्यक्ति समान नहीं हैं। जब कि भगवान ने गीता में कहा है कि 'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति' अर्थात मैं सबमें समान रूप से हूं और सभी मुझमें समान रूप से स्थित हैं। यह 'समान' शब्द तभी स्पष्ट होता है, जब हमारे दोनों नेत्रों में समन्वयता आ पाती है। इन दोनों की समन्वयता होने पर ही योगी सिद्ध होता है और आत्मसिद्धि को प्राप्त करता है।"

उस दिन उन्होंने 'क्रिया योग' के बारे में विस्तार से स्पष्ट किया, उन्होंने कहा, "क्रिया योग के बारे में बातें तो बहुत सुनी जाती हैं, परन्तु ऐसे कितने लोग हैं, जो क्रिया योग के मर्म को समझ सकते हैं। योग और क्रिया दोनों विपरीतार्थक शब्द हैं। जब योग होता तो क्रिया सम्भव नहीं है और क्रिया में योग को ढूंढ़ना व्यर्थ है, परन्तु इन दोनों का समन्वय ही 'आत्मसिद्धि' कहलाता है।"

"सूर्य को भी आत्मा और 'आत्म' कहा गया है। यह सूर्य निश्चय ही हमारे भ्रूमध्य में स्थित है। जब व्यक्ति दोनों नेत्रों से भ्रूमध्य पर दृष्टि निक्षेप करता है, तो उसे एक विचित्र और अद्वितीय अनुभूति होती है। उसे ऐसा महसूस होता है कि जैसे उसके मस्तिष्क में हज़ारों-हज़ार सूर्य उद्घटित हो गए हैं। उनके प्रकाश से वह पूर्ण देदीप्यमान हो उठता है और कई-कई जन्मों का कलुष समूल नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार प्रचंड अग्नि में घासफूस जलकर समाप्त हो जाते हैं।

"पर यह अत्यधिक कठिन क्रिया है और योग्य गुरु के निर्देशन में ही सम्पन्न करनी चाहिए, क्योंकि वाम नेत्र की नाड़ी और दक्षिण नेत्र की नाड़ी का जब भ्रूमध्य में समन्वय होता है, तब यदि देहसिद्धि नहीं होती, तो वे नाड़ियां भटककर रास्ता बदल देती हैं। और ऐसी स्थिति में व्यक्ति पागल हो सकता है। अतः सावधानी के साथ जिस मार्ग या नाड़ी से भ्रूमध्य में दृष्टिनिक्षेप की

जाती है, उसी नाड़ी से पुनः नेत्र में आना चाहिए।"

फिर कुछ सोचकर वे मुझे आंगन में ले गए। दोपहर का समय था और सूर्य पूरी क्षमता के साथ आकाश में तप रहा था। उन्होंने मुझे आंगन में बिठा दिया और दोनों नेत्रों को भ्रूमध्य में स्थापित करने की आज्ञा दी।

प्रयत्न करने पर भी जब उतना सम्भव नहीं हो सका, जितना कि होना चाहिए था, तो उन्होंने अपने दोनों हाथों से मेरी दोनों आंखों पर उंगलियां रखीं और ज्यों ही भ्रूमध्य को अंगूठे से दबाया, तो मेरे चारों ओर प्रकाश-ही-प्रकाश फूट पड़ा। ऐसा लगा जैसे मेरा सारा सिर और मस्तिष्क प्रकाश से नहा गया है, भ्रूमध्य में सैकड़ों-सैकड़ों सूर्य एक साथ उग आए हैं और उस अनिर्वचनीय प्रकाश में मैं निरन्तर गतिशील हूं, जैसे कि मैं सूर्यलोक की ओर अग्रसर हो रहा हूं। ज्यों-ज्यों मैं आगे की ओर बढ़ता त्यों-त्यों मेरा आकार लघु से लघुतम बनता जाता है। एक क्षण ऐसा भी आया कि मेरा पूरा आकार एक छोटे-से बिन्दु में सिमटकर रह गया।

तभी बहुत दूर से पूज्य गुरुदेव की वाणी झंकृत हुई कि यही तुम्हारा मूल स्वरूप है, यही तुम्हारी आत्मा है।

फिर धीरे-धीरे ऐसा लगा जैसे मैं लौट रहा हूं और ज्यों-ज्यों मैं पीछे की ओर लौट रहा था, त्यों-त्यों मेरा आकार विस्तार पाता जा रहा था। मैं कुछ ही क्षणों बाद जब स्वस्थ हुआ और आखें खोल दी, तो सामने गुरुदेव खड़े थे।

इस सारी प्रक्रिया में कुछ ही सेकंड लगे होंगे, परन्तु मैंने अनुभव किया कि शायद बहुत बड़ा समय व्यतीत कर दिया है। कुछ क्षणों में मैंने जो कुछ देखा, ब्रह्मांड की गति, ग्रह, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र आदि को जिस प्रकार से घूमते हुए और आकर्षण-विकर्षण में होते हुए देखा, वह अपने-आप में अप्रत्याशित था।

गुरुदेव ने समझाया, "यह समस्त ब्रह्मांड और सूर्य हमारे मस्तिष्क में निहित हैं, योगी ही इनको भेद सकता है और पूर्ण आत्मसिद्धि प्राप्त कर सकता है।"

मैंने प्रश्न किया, "इस सिद्धि का क्या प्रयोजन है?"

उन्होंने उत्तर दिया, "मानव शरीर भंगुर है, पर जिसे अपने-आप को लघुतम बनाने की प्रक्रिया का ज्ञान है, वह जरा-मरण से सर्वथा मुक्त हो जाता है। उसे जीवन में किसी प्रकार की कोई व्याधि, वृद्धावस्था या मृत्यु प्राप्त नहीं होती। मृत्यु उसके पास भी नहीं आ सकती। वह इन सबसे परे होकर पूर्णत्व प्राप्त कर

सकता है और हजारों-हजार वर्षों तक जीवित रहकर उन आयामों को छू लेता है जो कि हमारी पूर्णता का हेतु है। इसी को ध्यान में रखकर 'ईशावास्योपनिषद्' में कहा गया है — 'पूर्ण मदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।' "

मेरे सामने पहली बार कुछ शब्दों के अर्थ स्पष्ट हुए थे। पहली बार मैंने देहसिद्धि और आत्मसिद्धि को समझने का प्रयास किया। पहली बार मैंने अनुभव किया कि योगी किस प्रकार से जरा-मरण से मुक्त होकर पूर्णत्व प्राप्त कर लेते हैं।

आनन्दकन्द हृदय

जन्माष्टमी का पर्व वृन्दावन में अत्यन्त धूमधाम से मनाया जाता है। वहां के मुख्य मन्दिर में मधुकरी-भिक्षा का विधान है, इसका तात्पर्य — लोग जो भी दे दें, उसी से जीवन-निर्वाह किया जाता है। न तो किसी से कुछ मांगते हैं और न खरीदकर लाते हैं। अपने हाथों से भी पकाना उचित नहीं। इस प्रकार जीवन-निर्वाह करने को मधुकरी-भिक्षा कहा जाता है। वृन्दावन में ही एक अन्धे अवधूत योगी ने गुरुजी से प्रश्न किया, "मुझे नित्य आनन्दकन्द श्रीकृष्ण के दर्शन तो हो जाते हैं, परन्तु उनकी लीला को मैं अन्तस्तल में नहीं देख पाता। मेरी इच्छा है कि मेरे मन में उनकी रासलीला हो और मैं अपनी आंखों से जी भरकर देखता रहूं।"

गुरुदेव ने कहा, "यह सहज सम्भव है। तुम्हें मैं एक गोपनीय तथ्य बता रहा हूं, जिसके माध्यम से तुम्हारी इच्छा पूरी हो सकेगी और तुम्हारे हृदयस्थल पर भगवान श्रीकृष्ण का आनन्द नृत्य रासलीला सम्पन्न हो सकेगी।"

उन्होंने बताया कि " यह योग के माध्यम से सम्भव है, वक्षस्थल के पास एक नाड़ी है, जिसका एक सिरा सहस्रार और दूसरा सिरा हृदय से सम्बन्धित है। इसको 'योगिनी नाड़ी' कहते हैं, इसके द्वारा मस्तिष्क और हृदय का सम्बन्ध-स्थापन सम्भव हो जाता है।

" योगी सुषुम्ना को जाग्रत कर सहस्रार तक पहुंचते हैं, परन्तु कभी-कभी यदि सही तरीके से सुषुम्ना को जाग्रत न किया जाए, तो वह सहस्रार तक न जाकर हृदय की ओर चला जाता है। यही वह भेद है। योगी चाहे तो सुषुम्ना को जाग्रत-प्रतिष्ठ कर ऊंचाई की ओर अग्रसर करते हुए उसे मस्तिष्क की ओर न मोड़कर हृदय की ओर मोड़ दें। उनका समापन हृदय-स्थल पर ही होता है।

" इसमें षट्चक्र प्रक्रिया से कभी-कभी न्यूनता रह जाती है, क्योंकि ये प्रक्रियाएं

ठीक हृदय-स्थल तक नहीं पहुंच पातीं। परन्तु यदि ऊर्ध्व गति के द्वारा अग्रसर हो, तो निश्चय ही यह गति सुषुम्ना के द्वारा गुप्त मार्ग से विश्राम-स्थल तक पहुंचती है और जहां इसका विश्राम होता है वही विश्राम लीला, विश्राम-स्थल या आनन्द-स्थल कहलाता है। चैतन्य महाप्रभु ने इसी स्थिति द्वारा अपने हृदय-स्थल पर रासलीला सम्पन्न करवाई थी, ऐसा ही अनुभव अन्य योगियों को भी हुआ है।

" इस नाड़ी को पकड़कर यदि योगी हृदय पर आघात करता है, तो यही आघात कीर्तन बन जाता है और उसके हृदय-स्थल पर चौबीस घंटे निरन्तर कीर्तन होता रहता है। इसी के माध्यम से योगी रासलीला सम्पन्न करता है, और जो दृश्य वह देख पाता है वह अद्भुत है। "

ऐसा कहते-कहते स्वामी जी ने उस अन्धे अवधूत के हृदयस्थल पर पैर के अंगूठे से टहोका लगाया और लगाते ही जैसे उसके पूरे शरीर की नाड़ियां झंकृत हो गईं। योगिनी नाड़ी के माध्यम से हृदय-स्थल विश्राम-स्थल बन गया और रासलीला सम्पन्न हो गई।

नख–दर्पण

यमुनोत्री तक तो लोग जाते हैं, परन्तु बहुत कम लोगों को पता है कि इसके आगे लगभग 6 किलोमीटर पर एक अत्यन्त ही सुन्दर रमणीय अद्भुत प्राकृतिक झील है, जिसे 'वासुकी झील' कहते हैं। इस झील का पानी अत्यन्त ही मधुर, शीतल और स्वच्छ है। यह यमुना नदी के आसपास से प्रवाहित होती है।

हम साधकों की कई दिनों से इच्छा थी कि वासुकी झील के दर्शन किए जाएं। परन्तु उसका रास्ता स्पष्ट नहीं था, क्योंकि यमुनोत्री के बाद आगे किसी प्रकार की न तो कोई पगडंडी है और न कोई रास्ता ही।

जब हम वासुकी झील के निकट पहुंचे, तो वहां की प्राकृतिक शोभा देखकर हम दंग रह गए। यह अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता था कि प्रकृति इतने विविध पुष्पों का शृंगार कर इस बर्फीले प्रदेश में बैठी होगी। असंख्य तरह के पुष्प यहां विकसित हैं। मैंने फूलों की घाटी के बारे में तो सुना और देखा अवश्य था, परन्तु प्राकृतिक सुषमा की दृष्टि से यह स्थान भी विश्व का अत्युत्तम स्थान है। मैंने यहां पर खिले हुए एक मीटर लम्बे-चौड़े 'ब्रह्म कमल' भी देखे, कई-कई रंगों के पुष्पों से आच्छादित यह धरती अपने-आप में अद्वितीय है।

वासुकी झील लगभग तीन मील लम्बी और डेढ़ मील चौड़ी है। इसका स्वच्छ जल अपने-आप में पवित्रता का बोध कराता है। हम सबने जी भरकर इस झील में स्नान किया और सन्ध्यावन्दन आदि से निवृत्त हुए।

दोपहर का समय हो गया था। पूज्य गुरुदेव वहां वनस्पतियों के बारे में समझा रहे थे। तभी बातचीत नख-दर्पण पर आ गई। गुरुदेव ने कहा, "यह एक विशिष्ट सिद्धि है, जिसके माध्यम से साधक अपने दाहिने हाथ के अंगूठे के नख में विश्व की किसी भी घटना को बख़ूबी देख सकता है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि किसी पर्दे पर वह कोई चलचित्र देख रहा हो।"

मैंने पूछा, "क्या संसार में कहीं पर भी घटित घटना को तत्क्षण देखा जा सकता है?"

गुरुदेव ने उत्तर दिया, "वर्तमान घटनाओं को ही नहीं यदि वह चाहे तो बीती हुई घटनाओं को भी पुनः देख सकता है और भविष्यकालीन घटनाओं को भी वह नख-दर्पण के माध्यम से पहचान सकता है।"

अपनी बात की व्याख्या करते हुए गुरुदेव ने बताया, "काल का प्रवाह निरन्तर है। काल अपने-आप में अखंड और अविभाज्य है। जिस प्रकार बिजली के एक सिरे को हम पकड़ लें और उसका दूसरा सिरा कई हज़ार मील दूर मूल स्रोत से जुड़ा हो, तो भी बिजली का अनुभव उतनी दूरी पर भी हो जाता है, ठीक उसी प्रकार आज से दस हज़ार वर्ष पूर्व, वर्तमान और दस हज़ार वर्ष बाद की घटनाएं भी एक ही काल सूत्र में आबद्ध हैं। यदि हम उसके एक सिरे को देख सकते हैं, तो दूसरे सिरे को भी देख सकते हैं और इस प्रकार इन दोनों सिरों के बीच जितनी भी घटनाएं घटित हुई हैं, उन सबको देखा जा सकता है भविष्य में उस कालसूत्र में जो घटनाएं घटित होंगी, उनको भी पहचाना जा सकता है।"

योगी अपने अन्तर्ध्यान में इन सबको देख सकता है, और विशिष्ट सिद्धि प्राप्त कर अपने हाथ के नाख़ून में उन घटनाओं को घटित होते हुए अनुभव कर सकता है।

हमारी जिज्ञासा होने पर उन्होंने उस विशिष्ट पद्धति को भी स्पष्ट किया, जो कि 'नख-दर्पण' विभूति से सम्बन्धित है। गुरुदेव ने मुझे अपने पास बुलाया और मेरे दाहिने हाथ के नाख़ून को अपनी उंगली और अंगूठे के बीच में लेकर मसलकर छोड़ दिया, फिर मुझे अपना अंगूठा देखने के लिए कहा।

मैं देख रहा था कि आज से सात जन्म पूर्व मैं क्या था और जीवनयापन कर किस प्रकार मृत्यु को प्राप्त हुआ, फिर छठा जीवन, पांचवां जीवन और इसी प्रकार अपने वर्तमान जीवन को भी मैं साफ़-साफ़ देख रहा था।

कुछ क्षण बाद वह दृश्य भी आया, जब मैं अपने गुरु भाई-बहनों के साथ वासुकी झील पर गुरुदेव के सामने बैठा हूं और यह सब-कुछ देख रहा हूं। दृश्य परिवर्तित होते हैं, मैं आगे के जीवन की आने वाली घटनाओं को बराबर देखता जा रहा हूं। मैंने यह भी अनुभव किया कि मेरी मृत्यु कहां और किस प्रकार से है, फिर मैंने अगला जीवन देखा। उस जीवन का पूरा क्रम देखा और इस प्रकार आगे के सभी दृश्य बराबर उस नख में मुझे दिखाई दे रहे थे।

जो कुछ मैंने देखा था, वह आश्चर्यचकित कर देने वाला था। पहली बार मैंने अनुभव किया कि काल का प्रवाह अनन्त है और हमारा जीवन निश्चित है। योगी लोग उस निश्चित जीवन में हस्तक्षेप कर उसे मनचाहा बना सकते हैं और अपने जीवन को संवार सकते हैं।

मेरी इस धारणा की पुष्टि बाद में गुरुदेव ने भी की। उन्होंने भी बताया कि सामान्य जन तो वैसे ही पैदा होकर मर जाते हैं जैसा कि उनके जीवन में निश्चित होता है, परन्तु जो गुरु की दीक्षा प्राप्त साधक हैं, जो साधना के क्षेत्र में निरन्तर अग्रसर हैं, वे साधनाओं के माध्यम से विपरीत घटनाओं को मोड़कर अनुकूल बना सकते हैं। जिस प्रकार वे चाहें अपने जीवन का निर्माण कर सकते हैं और यदि चाहें तो इसी जीवन में मुक्ति पा सकते हैं या मृत्यु को जीतकर अमृत्युवान बन सकते हैं। सैकड़ों-हज़ारों वर्षों की आयु प्राप्त कर परमहंस की अवस्था में पहुंच सकते हैं।

गुरुदेव ने कहा, "इतना ही नहीं, अपितु योगी या ऐसी साधना से सम्बन्धित साधक किसी अन्य के जीवन-प्रवाह में भी परिवर्तन ला सकता है। उसके जीवन की अशुभ घटनाओं को समाप्त कर सकता है और अनुकूल घटनाओं की वृद्धि कर सकता है।"

"ऐसा योगी किसी के भी भाग्य का निर्माण कर सकता है और यदि उसके भाग्य में कुछ घटनाएं नहीं लिखी हुई हों, तो उसे भी बना सकता है।"

काली दर्शन

बहुत कम लोगों को ज्ञात होगा कि यमुनोत्री से वासुकी झील के बीच मे एक काली मन्दिर है, जो कि सिद्ध चैतन्य पीठ है। वापस लौटते समय इस स्थान पर एक रात्रि हम रुके थे।

काली की चर्चा चलने पर पूज्य गुरुदेव ने महाकाली के 51 भेद बताए हैं। मगर इनमें भी अष्ट भेद मुख्य हैं – 1. दक्षिणाकाली, 2. स्पर्शमणि काली, 3. सन्ततिप्रदा काली, 4. सिद्धि काली, 5. चिन्तामणि काली, 6. कामकला काली, 7. हंस काली तथा 8. गुह्य काली।

हमारे साथ हरिहर बाबा भी थे, जो कि काली से उपासक थे, उन्होंने पूछा, "गुरुदेव, इनका नाम काली क्यों पड़ा?"

स्वामी जी ने जवाब दिया, निर्वाण तन्त्र में इसकी व्याख्या है –

दक्षिणास्यां दिशि स्थाने संस्थितुस्य खेः सुतः।
काली नाम्ना पलायेत भीति युक्तः समन्ततः॥
अतः सा दक्षिणा काली त्रिषुलोकेषु गीयते।

दक्षिण दिशा में रहने वाले सूर्यपुत्र यमराज काली का नाम सुनते ही डरकर भाग जाते हैं। फलस्वरूप कालीभक्त यमराज के चंगुल में नहीं फंसते। इसीलिए काली को तीनों लोकों में 'दक्षिणाकाली' कहते हैं।

शाम को पूज्य गुरुदेव ने शंकराचार्य विरचित कालिकाष्टक सुनाया था, उनके कुछ पद आज भी मुझे स्मरण हैं –

गलद्रक्तमुण्डावली कण्टमाला,
महाघोररावा सुदंष्ट्रा कराला।
विवस्त्रा श्मशानालया मुक्त केशी,
महाकालकामाकुला कालिकेयम्॥

अर्थात भगवती काली अपने कंठ में रक्त टपकते हुए मुंडों की माला पहनती हैं, वे अत्यन्त घोर शब्द कर रही हैं, उनकी दाढ़ें भयानक हैं, वे वस्त्रहीना हैं, वे श्मशान में निवास करती हैं, उनके केश बिखरे हुए हैं और वे महाकाल के साथ कामातुर हो रही हैं।

भुजेवामयुग्मे शिरोसिं दधाना,
वरं दक्षयुग्मेभयं वै तथैव।
सुमध्यापि तुंगस्तना भारनम्रा
लसद्रक्तसृक्कद्वया सुस्मितास्या॥

महाकाली अपने दोनों बाएं हाथों में नरमुंड तथा खड्ग को धारण किए हुए हैं तथा दोनों दाहिने हाथों में वर तथा अभय मुद्रा लिये हुए हैं। वे सुन्दर कटि वाली, उत्तुंग स्तनों के भार से झुकी हुई-सी दो रक्त मालाओं से सुशोभित तथा मधुर मुस्कान से युक्त हैं।

शवद्वन्द्वकर्णावतंसा सुकेशी,
लसत्प्रेतपार्णिं प्रयुक्तैककांची।
शवाकारमंचाधिरूढा शिवाभि
श्चतुर्दिक्षु शब्दायमानाभिरेजे॥

उनके दोनों कानों में दो शव रूपी आभूषण हैं, उनके केश सुन्दर हैं, वे शवों के हाथों में सुशोभित करधनी को धारण किए हुए हैं। वे शव रूपी मंच पर आरूढ़ हैं तथा उनके चारों ओर शिवाओं का शब्द गूंज रहा है।

इस ध्यान के अनन्तर उन्होंने काली की स्तुति भी तन्मयता के साथ की। उन्होंने कहा, "यह कालकाष्टक केवल स्तुति ही नहीं है, अपितु सही अर्थों में काली का आह्वान मन्त्र है। यदि साधक विगलित कंठ से इस अष्टक का उच्चारण करता है, तो निश्चय ही मां काली प्रत्यक्ष दर्शन देती हैं।"

रात घिर गई थी। चन्द्रमा की चांदनी चारों तरफ़ बिखरी हुई थी, चारों

तरफ़ हम सभी शिष्य-शिष्याएं काली मन्दिर के सामने आनन्द युक्त बैठे हुए थे, और गुरुदेव का मधुर कंठ गुंजरित हो रहा था —

विरंच्यादिदेवास्त्रयस्तो गुणास्त्रीम्
समाराध्य कालीं प्रधाना बभूवुः ।
अनादिं सुरादिं मखादिं भवादिं,
स्वरूपं त्वदीयं न विन्दन्ति देवाः ॥1॥

जगन्मोहिनीयम् तु वाग्वादिनीयम्
सुहृदपोषिणी शत्रुसंहारणीयम् ।
वचस्तम्भनीयम् किमुच्चाटनीयम् ।
स्वरूपं त्वदीयं न विन्दन्ति देवाः ॥2॥

इयं स्वर्गदात्री पुनः कल्पवल्ली,
मनोजास्तु कामान्यथार्थ प्रकुर्यात् ।
तथा ते कृतार्था भवन्तीति नित्यं,
स्वरूपं त्वदीयं न विन्दन्ति देवाः ॥3॥

सुरापानमत्ता सुभक्तानुरक्ता,
लसत्पूतचित्ते सदाविर्भवस्ते ।
जपध्यान पूजा सुधाधौतपंका,
स्वरूपं त्वदीयं न विन्दन्ति देवाः ॥4॥

चिदानन्दकन्दं हसन्मन्दमन्दं
शरच्चन्द्र कोटिप्र भापुंजबिम्बम् ।
मुनीनां कवीनां हृदि द्योतयन्तं,
स्वरूपं त्वदीयं न विन्दन्ति देवाः ॥5॥

महामेघकाली सुरक्तापि शुभ्रा,
कदाचिद्विचित्रा कृतिर्योगमाया ।
न बाला, न वृद्धा, न कामातुरापि,
स्वरूपं त्वदीयं न विन्दन्ति देवाः ॥6॥

क्षमास्वापराधं महागुप्तभावं,
मय लोकमध्ये प्रकाशीकृतं यत् ।
तव ध्यानपूतेन चापल्यभावात्
स्वरूपं त्वदीयं न विन्दन्ति देवाः ॥7॥

यदि ध्यान युक्तं पठेद्यो मनुष्य-
स्तदा सर्वलोके विशालो भवेच्च ।
गृहे चाष्टसिद्धिर्मृते चापि मुक्ति-
स्वरूपं त्वदीयं न विन्दन्ति देवाः ॥8॥

ज्यों ही काली स्तुति समाप्त हुई हम सब शिष्यों ने देखा कि उस छोटी-सी मूर्ति में से एक बड़ा भीम रूपा स्वरूप बाहर निकलकर आ रहा है। उसकी कान्ति और स्वरूप ठीक वैसा ही था जैसा कि इस अष्टक में और ध्यान में वर्णित था। हम सब काली को मन्थर गति से आते हुए बराबर देख रहे थे। वह मन्दिर के प्रांगण से बाहर निकली और हम सब शिष्यों को देखकर मुस्कुराई भी। उसकी वह मुस्कराहट आज भी मेरे चित्त पर अंकित है।

सही कहा जाए तो वह स्वरूप हमसे मुश्किल से एक हाथ दूर था। उनके शरीर की गन्ध और मुंडमाला लगभग हमसे स्पर्श-सी हो रही थी। पहली बार किसी जाज्वल्यमान स्वरूप को इस प्रकार हमने देखा होगा। धीरे-धीरे वह स्वरूप पीछे हटता हुआ पुनः उस मूर्ति में समाहित हो गया।

गुरुदेव ने कहा, "जो कुछ आप लोगों ने देखा वह यथार्थस्वरूप है। यह काली का चिन्त्य स्वरूप है और इसके दर्शन करने से साधक यमभीति से मुक्त हो जाता है। यम उसे कभी भी व्यथा नहीं दे सकते।"

यह अष्टक आज भी मुझे भली भांति स्मरण है और जब भी घर में कोई व्याधि आती है, किसी प्रकार की परेशानी या चिन्ताजनक समाचार होता है, तो मेरे मुंह से स्वतः यह अष्टक निकलने लग जाता है और कुछ ही समय बाद उस समस्या का समाधान हो जाता है। वस्तुतः मां काली वात्सल्यमयी जननी हैं। उनके हाथों में हम सब सुरक्षित हैं।

योग विद्या

उन दिनों हम कलकत्ता में थे। विभूतिभूषण वन्द्योपाध्याय पूज्य गुरुदेव के अभिन्न शिष्य रहे हैं, बाद में उन्होंने संन्यास ले लिया था और संन्यास जीवन में भी उन्होंने काफ़ी अच्छे स्तर तक सिद्धि प्राप्त की।

सांख्य योग

एक दिन विभूति बाबू के यहां पूज्य गुरुदेव का प्रवचन था। उन्होंने कहा, "कोई भी पदार्थ या वस्तु नष्ट नहीं होती, अपितु उसका स्वरूप बदल जाता है। यह तो भौतिक तथ्य हुआ जैसे लकड़ी का जलने के बाद कोयले के रूप में परिवर्तन हो जाता है और कोयला जलकर राख के रूप में परिवर्तित हो जाता है। यह व्यक्त स्वरूप है।

परन्तु सांख्यमीमांसाकार ने कहा है कि कोई भी पदार्थ या वस्तु अपने स्वरूप और आकार में परिवर्तन नहीं लाती। लकड़ी का टुकड़ा जलने के बाद भी लकड़ी का टुकड़ा ही रहता है यद्यपि वह अव्यक्त स्वरूप होता है।

उनकी यह बात लोगों के गले नहीं उतरी। यह कैसे सम्भव है कि लकड़ी या कागज़ का टुकड़ा जल जाने के बाद भी लकड़ी या कागज़ का टुकड़ा बना रहता है, जब कि वास्तविक रूप में तो वह जलकर राख हो जाता है।

एक जिज्ञासु ने प्रश्न किया, "यदि कोई कागज़ का टुकड़ा मेरे हाथों में है, तो वह जल जाने के बाद तो राख में परिवर्तित हो ही जाएगा। वह मूल कागज़ के रूप में किस प्रकार रह सकता है?"

पूज्य गुरुदेव ने उनकी तरफ़ देखा और कहा, "दर्शन और उनकी मीमांसा

तो सही है और मैंने जो कुछ कहा वह भी पूर्णतः सत्य है। तुम्हारी दृष्टि और चिन्तन स्थूल है। इसलिए उस सूक्ष्मता को तुम नहीं समझ सकते, जब तक कि सूक्ष्म स्थिति तक पहुंच न सको।" गुरुदेव के कहने पर उसने अपनी जेब से अपनी पत्नी का पत्र निकाला और जला दिया। और उसकी राख भी हवा में उड़ा दी।

लेकिन तभी स्वामी जी ने अपने नीचे बिछे आसन के नीचे से वह पत्र निकालकर सबके सामने उसे दे दिया।

स्वामी जी फिर बोले, "मैंने सांख्ययोगदर्शन की बात पहले ही आपको समझाई थी कि व्यक्त रूप में पदार्थ परिवर्तित हो सकता है, पर अव्यक्त रूप में पदार्थ ज्यों का त्यों बना रहता है। सिद्ध योगी उसके अणुओं को पकड़कर परस्पर संयोजन कर दिखा देता है, जिस प्रकार से मैंने आपके सामने किया। कागज़ के अणु शून्य में विलीन हो गए थे, मैंने उन अणुओं को भी परस्पर संयोजित किया था।"

आज बिल्कुल नई दृष्टि सबके सामने थी और पहली बार कणाद का सांख्य दर्शन समझ में आ रहा था।

पुत्र योग

उन दिनों स्वामी जी बम्बई के एक शिष्य के यहां ठहरे हुए थे। पति-पत्नी दोनों गुरुदेव के कई वर्षों से शिष्य थे और अपने घर में उन्होंने गुरुदेव के कई चित्र स्थापित कर रखे थे।

दोनों भाटिया जी और उनकी पत्नी चन्द्रा सभी प्रकार से सुखी थे। उन्हें एक ही कमी थी कि उनके घर कोई सन्तान नहीं थी।

सन्तान होने के कोई आसार ही नहीं थे, क्योंकि डॉक्टरों की राय के अनुसार चन्द्रा के गर्भाशय की थैली फटी हुई थी, जिसकी वजह से गर्भ धारण नहीं हो पाता था। भाटिया जी अपनी पत्नी को लेकर इंग्लैंड भी इलाज के लिए गए और वहां दो-तीन महीने रहे, परन्तु इससे भी स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ।

एक दिन, समय देखकर, दोनों पति-पत्नी गुरुदेव के चरणों में बैठ गए। बोले, "मैं तो अपने-आप को संयत कर लेता हूं, पर चन्द्रा नारी स्वभाव है, और

कभी-कभी इसके मन में पुत्र की ऐसी भूख उठती है कि यह अपने आप में नहीं रह पाती। उस समय यह सर्वथा गुमसुम, उदास पड़ी रहती है और दो-तीन दिन तक इसकी ऐसी ही स्थिति रहती है।"

चन्द्रा ने हाथ जोड़कर कहा, "महाराज! यह जीवन तो बरबाद हो ही गया, क्योंकि हम दोनों की सद्गति हो ही नहीं सकती, हम तो प्रेत बनकर जीवन में भटकेंगे। आप जैसे समर्थगुरु होने पर भी इस जीवन की यही स्थिति है, तो फिर हमारा दुर्भाग्य मिट ही नहीं सकता।"

गुरुदेव ने कहा, "ऐसी कोई बात नहीं है। इसमें कोई दो राय नहीं कि तुम लोगों के जीवन में पुत्र-सुख लिखा ही नहीं है। पिछला जीवन भी पुत्रविहीन ही रहा और इसके बाद के भी दो जीवन पुत्रविहीन ही हैं। पिछले कर्मों का फल तो भोगना ही पड़ता है।"

चन्द्रा की आंखों में आंसू आ गए थे। पल्ले से आंसू पोंछती हुई बोली, "समर्थ गुरु की कृपा होने पर भी वह स्त्री बांझ ही रहती है?"

इस बार गुरुदेव कुछ क्षण मौन रहे। फिर कुछ संयत होकर बोले, "यह बात तो सही है कि तुम्हारे जीवन में पुत्र योग नहीं है, परन्तु गुरु भक्ति और गुरु अनन्यता आप लोगों के जीवन में रही है, तो तुम्हारे एक पुत्र अवश्य होगा।"

दूसरे दिन गुरुदेव ने उन दोनों को स्नान कराकर, स्वच्छ वस्त्र पहनाकर अपने सामने आसन पर बिठा दिया। हम सब शिष्य भी पीछे बैठे हुए थे। गुरुदेव ने कहा, "चन्द्रा! तुम्हारे जीवन में निश्चय ही पुत्र योग नहीं है, परन्तु मैं अपने एक तपस्यारत संन्यासी शिष्य को आज्ञा देता हूं कि वह तुम्हारे गर्भ से जन्म ले।"

ऐसा कहकर पूज्य गुरुदेव ने कुछ विशेष और कठिन क्रियाएं सम्पन्न कराईं, फिर वे आसन पर ही ध्यानस्थ हो गए। लगभग बीस-पच्चीस मिनट के बाद वे गहरे ध्यान में चले गए, कुछ ही मिनटों बाद उनके मुंह से आवाज़ उच्चरित हुई, "आनन्द! तुम्हें तपस्या छोड़कर चन्द्रा के गर्भ से जन्म लेना ही है। ठीक समय होने पर मैं तुझे पुनः संन्यास जीवन में बुला लूंगा।"

ऐसा उन्होंने दो-तीन बार कहा। ऐसा लग रहा था कि गुरुदेव की अपने किसी संन्यासी शिष्य आनन्द से बातचीत चल रही हो और वे उसे आज्ञा दे

रहे हों। आनन्द क्या जवाब दे रहा था यह हमें सुनाई नहीं दे रहा था।

फिर धीरे-धीरे गुरुदेव चैतन्य अवस्था में आए और आंखें खोल दीं। बोले, "चन्द्रा, तुम्हारे गर्भ से एक तेजस्वी बालक जन्म लेगा और तुम दोनों का नाम रोशन करेगा।"

सप्ताह-भर बाद हम सब वहां से रवाना हुए। ठीक नौ महीने बाद चन्द्रा के यहां अत्यन्त तेजस्वी बालक ने जन्म लिया। उसे देखते ही ऐसा आभास होता था जैसे किसी महापुरुष ने जन्म लिया हो। जन्म लेने के दो दिन पूर्व ही स्वप्न में आनन्द ने कह दिया था, मैं तुम्हारे गर्भ से अमुक तारीख़ को इतने बजे जन्म लूंगा।

आनन्द के उत्पन्न होने के लगभग दो-तीन महीने बाद गुरुदेव को बम्बई जाने का अवसर मिला। चन्द्रा और भाटिया जी अत्यधिक प्रसन्न थे।

स्वामी जी ने आनन्द को देखा और अत्यन्त वात्सल्य के साथ उसके सिर पर हाथ फेरा फिर कमरे से चन्द्रा, भाटिया जी और हम सब शिष्यों को कमरे से बाहर चले जाने के लिए कहा। कमरे में केवल तीन महीने का शिशु आनन्द और गुरुदेव ही रह गए। कमरा अन्दर से बन्द कर दिया गया। अगले डेढ़ घंटे तक गुरुदेव उस कमरे में रहे। जब कमरे का दरवाज़ा खोला, तो हम सबने देखा कि बालक आनन्द मुस्कुरा रहा है।

गर्भ ज्ञान

काशी में एक बार पोद्दार जी ने प्रश्न किया, "महाराज, अभिमन्यु ने गर्भ में ही चक्रव्यूह भेदन का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। क्या यह सम्भव है? क्या ऐसी युक्ति का ज्ञान है, जिससे कि व्यक्ति गर्भ में ही सब-कुछ सीख सके?"

गुरुदेव ने कई वैदिक और पौराणिक उदाहरण देते हुए समझाया। वैदिक काल में तो यही परम्परा प्रचलित थी। गूढ़ और दुरूह ज्ञान तो बालक को गर्भ में ही दे देया जाता था और बाद में जन्म लेने पर अन्य लौकिक क्रियाओं का ज्ञान कराया जाता था। पौराणिक काल में भी अभिमन्यु की ही नहीं, अपितु सैकड़ों घटनाएं इसकी साक्षी हैं। अष्टावक्र ने सम्पूर्ण वैदिक ज्ञान मां के गर्भ में ही प्राप्त किया था।

पोद्दार जी ने बताया, "क्या कुछ पौराणिक काल में ही हुआ था, अब वर्तमान काल में कुछ भी नहीं हो सकता?"

गुरुदेव ने कहा, "काल अपने-आप में अखंड हैं। वैदिक काल, पौराणिक काल या वर्तमान काल शब्द तो हमारे गढ़े हुए हैं। जब कि ऐसा कोई काल भेद नहीं होता। आज भी वे घटनाएं और तथ्य उतने ही सही हैं जितने कि उस समय में थे।"

चर्चा को आगे बढ़ाते हुए गुरुदेव ने कहा, "इस प्रकार की इच्छा रखने वाली माताएं यदि 'पुत्तलिका साधना' सम्पन्न कर लें, तो उनके गर्भ का सम्बन्ध बाह्य व्यक्ति से हो जाता है। यहां बाह्य व्यक्ति का तात्पर्य उनके पति या गुरु ही हो सकते हैं। ऐसा विधान करने पर मां अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी के बीच की दीवार तोड़ देती है। यों प्रत्येक स्त्री और पुरुष के दो जीवन हैं। एक अन्तर्मुखी जीवन है, जो कि शरीर के अन्दर होने वाली क्रियाओं और घटनाओं से सम्बन्धित है, दूसरा उसका बहिर्मुखी जीवन है, जिसमें वह कर्त्ता बनकर अपना कार्य सम्पादन करता है जब कि योग के क्षेत्र में प्रवेश करता है, तो पहली बार बहिर्जीवन और आन्तरिक जीवन में सम्बन्ध समन्वय स्थापित करता है।

आगे चलकर एक स्थिति ऐसी आ जाती है कि बहिर्जीवन और अन्तर्जीवन की विभाजक रेखा उपस्थित हो जाती है। इसी को पुत्तलिका कहते हैं। 'वशिष्ठ संहिता' में इसका प्रामाणिकता के साथ उल्लेख है। पुत्तलिका विधान से वह विभाजक रेखा समाप्त हो जाती है और आन्तरिक जीवन का बाह्य जीवन से सीधा सम्बन्ध हो जाता है।

बालक जब गर्भ में होता है, तो वह समर्थ ब्रह्म स्वरूप होता है और उसे जो भी बताया जाता है वह पूर्ण दक्षता के साथ हृदयंगम कर लेता है। उस पर अन्य किसी भी प्रकार के विचार, भावनाएं और क्रियाकलाप का प्रभाव नहीं होता। इसलिए उसमें ग्रहण करने की वृत्ति बहुत अधिक होती है, और वह एक ही बार में सुनकर समझ लेता है, हृदयंगम कर लेता है और उसमें दक्षता भी प्राप्त कर लेता है।

पुत्तलिका विधान के अनन्तर गर्भस्थ बालक को जो भी सिखाया जाता है, वह मां के द्वारा सीखता जाता है, क्योंकि उसका आधार तो मां ही होती है। जब मां चैतन्य अवस्था में होती है तब उस बालक को मां के द्वारा जो भी बताया जाता है, उस ज्ञान को गर्भस्थ बालक ब्रह्मस्वरूप होने के कारण सीखता जाता है और हृदयंगम करता जाता है। इसीलिए बाह्य जीवन में जो ज्ञान पांच वर्ष में सीखा जा सकता है, वही गर्भ में केवल पांच महीनों में ही प्राप्त कर लेता है।

कुछ क्षणों के लिए गुरुदेव चुप हो गए और फिर बोले, "तुम्हारी पत्नी को गर्भ है और यदि तुम चाहो तो ऐसा हो सकता है।"

पोद्दार जी ने कहा, "यदि आप ऐसी कृपा कर दें, तो मेरे जीवन का सौभाग्य ही होगा।"

अगले गुरुवार की पूज्य गुरुदेव ने उन दोनों को स्नान कर प्रातः 6 बजे आने के लिए कहा, जिससे कि 'पुत्तलिका विधान' सम्पन्न किया जा सके। गुरुवार के दिन पूज्य गुरुदेव ने उन्हें हम लोगों के सामने ही विशेष चेतना दी। सर्वप्रथम गणपति पूजन कर पोद्दार जी की पत्नी दिव्या के समस्त शरीर को मन्त्रों के द्वारा पवित्र किया, सम्पूरित किया और चैतन्य किया। इसके अनन्तर लगभग दस फुट दूर बैठे गुरुदेव ने मन्त्रों के माध्यम से उसके शरीर के समस्त अंगों को जाग्रत करते हुए अन्तर शरीर को जाग्रत किया। तत्पश्चात उन्होंने गर्भस्थ पिंड को 'चैतन्य' किया, जिससे कि वह बाह्य विधान सीख सके, समझ सके। इसी प्रकार पोद्दार जी के बाह्य जीवन को संयमित कर अन्तर्जीवन में आबद्ध किया और परस्पर दोनों के आन्तरिक और बाह्य जीवनों का सम्बन्ध स्थापित किया।

यह सारी क्रिया और पद्धति लगभग चार घंटे तक चली। सारी पद्धति पूज्य गुरुदेव को जबानी स्मरण थी। यद्यपि यह पद्धति जटिल है, परन्तु इससे दोनों का सारा शरीर चैतन्य और झंकृत हो गया था।

इसके बाद गुरुदेव ने दोनों को घर जाने के लिए कहा। साथ ही यह भी बताया, "मैंने गर्भस्थ पिंड को चैतन्य कर दिया है, और यह चैतन्यता सम्बन्ध आपसे सम्पर्कित किया है। इसका तात्पर्य यह है कि आप जो भी बोलेंगे या कहेंगे, वह गर्भस्थ शिशु स्वीकार करेगा और वह हमेशा के लिए उसके चित्त पर अंकित रहेगा। पर यदि दूसरा कोई व्यक्ति कुछ कहता है, तो उससे गर्भस्थ बालक पर किसी प्रकार का कोई प्रभाव व्याप्त नहीं होगा।"

"इसलिए आप अपने बालक को जो भी सिखाना चाहें, वह सिखा सकते हैं। आप उसे बहुत अच्छा गणितज्ञ बना सकते हैं, भौतिक शास्त्री बना सकते हैं, व्यापारी या डाकू बना सकते हैं, वेदपाठी या विद्वान बना सकते हैं। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि आप उसे जो भी ज्ञान या चिन्तन देंगे, वह बराबर ग्रहण करेगा।"

गुरुदेव ने हम लोगों को बताया कि इस पुत्तलिका विधान के द्वारा गर्भस्थ शिशु का जिन-जिन व्यक्तियों से सम्पर्क सम्पन्न किया जाता है, बालक केवल उसी की बात को स्वीकार करता है। ऐसा सम्बन्ध एक व्यक्ति से या दस व्यक्तियों से भी किया जा सकता है। समय-समय पर इनमें से कुछ व्यक्तियों का सम्बन्ध-विच्छेद भी किया जा सकता है, इसके बाद यदि वह कुछ भी कहता है, तो गर्भस्थ शिशु पर उसका कोई भी प्रभाव व्याप्त नहीं होता।

पोद्धार जी के मन में अपने पुत्र को उच्च कोटि का गणितज्ञ बनाने की इच्छा थी। इसलिए उन्होंने कलकत्ता से उस समय के विख्यात गणितज्ञ रामानुजाचार्य को बुलाया और सात महीनों के लिए उनकी सेवाएं प्राप्त कीं। रामानुजाचार्य लगभग 60 वर्ष के अत्यन्त अनुभवी और विश्वविख्यात गणितज्ञ थे। पोद्धार जी के पिता और वे दोनों सहपाठी थे तथा दोनों परिवारों का परस्पर अत्यधिक घनिष्ठ सम्बन्ध था।

ठीक समय पर पोद्धार जी के यहां बालक ने जन्म लिया और जब हम तीन वर्ष बाद काशी पहुंचे, तब तक उसकी ख्याति वाराणसी और उसके आसपास के क्षेत्र में फैल चुकी थी। मात्र तीन वर्ष का बालक गणित के कठिन समीकरणों को आसानी से हल कर लेता है। लगभग पन्द्रह अंकों की संख्या से गुणनफल कुछ ही सेकंडों में स्पष्ट कर देता। घनमूल और वर्ग चुटकियों में बता देता।

आज वही बालक अरुण पोद्धार विश्वविख्यात गणितज्ञ है और अन्तर्राष्ट्रीय गणित के क्षेत्र में उसने जो कीर्तिमान कायम किए हैं, वह विश्व को आश्चर्य चकित कर देने के लिए पर्याप्त है।

योग क्रिया

उन दिनों हम जबलपुर में ठहरे हुए थे। वहां नित्य कुछ श्रद्धालु उपस्थित हो जाते थे और कुछ विशेष सिद्धियां सीखने की इच्छा प्रकट करते।

गुरुदेव ने कहा, "उच्च कोटि की ज्ञान साधना और सिद्धियां प्रत्येक गृहस्थ के बस की बात नहीं। उन्हें तो सबसे पहले प्राणायाम के द्वारा श्वास-प्रश्वास क्रिया पर ही नियन्त्रण स्थापित होना चाहिए।"

श्वास-प्रश्वास की विधि समझाते हुए उन्होंने कहा, "श्वास लेने और छोड़ने में भी एक लय और संगीत होता है। यह लय ही प्राणायाम का मूल आधार है।" उन्होंने व्यक्तिगत रूप से भी इन क्रियाओं को सम्पन्न करके बताया।

फिर प्राणायाम को समझाते हुए बताया कि प्राण ही काल है। याम का तात्पर्य काल के प्रवाह को रोक देना है। प्राणायाम के द्वारा व्यक्ति काल के प्रवाह को रोक देता है और इस प्रकार उस पर समय का कोई प्रभाव व्याप्त नहीं होता। ऐसी स्थिति में व्यक्ति चाहे तो अपनी आयु में वृद्धि कर सकता है।

प्रवचन में भी उन्होंने बताया कि व्यक्ति की जो भी आयु भाग्य में लिखी हो वह सही है, परन्तु यदि व्यक्ति नित्य प्राणायाम करे, तो जितने समय तक वह प्राणों को आयाम देता है उतना ही समय उसकी आयु में बढ़ जाता है। इस प्रकार वह चाहे तो कई वर्ष अपनी आयु बढ़ा सकता है। उस बढ़ी हुई आयु में भी इसी क्रिया के द्वारा वह अमृत्यु को प्राप्त हो सकता है।

बाह्य और आन्तरिक प्राणायाम अलग-अलग हैं। सामान्य व्यक्ति बाह्य प्राणायाम ही कर सकता है, जब कि विशिष्ट योगी चौबीसों घंटे आन्तरिक प्राणायाम में मग्न रह सकता है। फलस्वरूप उस पर किसी प्रकार का प्रभाव व्याप्त नहीं होता। काल उस पर अपनी छाप नहीं छोड़ पाता, इसलिए वह यौवन-युक्त बना रहता है।

बाद में गुरुदेव ने वहीं पर हम सब शिष्यों को आन्तरिक प्राणायाम क्रिया भी समझाई और उनमें निष्णात किया।

साधनाएं

अग्निदृष्टि

आग्नेय दृष्टि अघोर साधना की एक विशिष्ट स्थिति है। इसमें साधक अन्दर के सम्पूर्ण ताप को एकत्र कर नेत्रों के द्वारा प्रज्वलित करता हुआ आगे बढ़ाता है। एक दिन हमने जिज्ञासावश इस साधना के बारे में पूछा, तो गुरुदेव ने उत्तर दिया, "यह अघोर साधना है और श्मशान में ही सिद्ध की जाती है। मडानन्द कई वर्षों तक मेरे साथ रहा था और वहीं पर इसे यह साधना सिखाई थी।"

इसका विश्लेषण करते हुए गुरुदेव ने बताया, "हमारे शरीर के सूर्य में भी प्रखर ताप विद्यमान है। यह पूर्ण आग्नेय सम्पन्न है और इसमें इतना प्रचंड ताप रहता है कि यदि पूरी क्षमता के साथ चट्टान पर डाल दी जाए, तो चट्टान भी पिघलकर छोटे-छोटे कणों में परिवर्तित हो जाती है।"

फिर इस आग्नेय साधना की बारीकियां समझाते हुए उन्होंने बताया, " नाभि के आसपास दहन-कुंड है, और इस दहन-कुंड की शान्ति अमृत के माध्यम से ही सम्भव है। इस दहन-कुंड में इतनी अधिक गर्मी है कि यदि उसका विस्फोट हो जाए, तो कई नगरों को एक साथ जलाकर ख़ाक कर सकता है। जिस प्रकार से एक छोटा-सा अणु यदि किसी नगर पर डाल दिया जाए, तो उस नगर का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। इसके भी आगे अणु का भंजन परमाणु है, जिसका विस्फोट कई नगरों को एक साथ समाप्त करने की क्षमता रखता है। ऐसे दस हजार परमाणुओं के दाह ऊष्मा और तीव्रता से भी ज्यादा इस दहन कुंड में उष्णता है। इसका करोड़वां हिस्सा भी यदि किसी पर निक्षेप हो जाए, तो वह खड़ा-खड़ा भस्म हो जाता है। यदि इस दहन-कुंड को खुला छोड़ दिया जाए, तो पूरा शरीर जलकर ख़ाक हो जाता है, परन्तु इसके चारों ओर अमृत

कुंड है। इसी वजह से यह दाह अपने-आप में संयत है।

" योगी इस अमृत-कुंड के बीच में से जो गुह्यनी नाड़ी निकलती है, उसी नाड़ी के माध्यम से इस ताप वेग को बाहर निकालकर प्रक्षेप करता है। गुह्यनी नाड़ी बाहर से अमृत से आवृत्त रहती है, पर भीतर अपनी संवाहिकता के द्वारा इस दाह को अग्रसर कर सकती है।

" इड़ा और पिंगला नाड़ियों का स्वाभाविक पथ सहस्रार की ओर है, परन्तु कुछ विशिष्ट योगी अनाहत चक्र के बाद इन दोनों नाड़ियों को परिवर्तित कर हृदय के पास से पुनः नाभि की ओर ले आते हैं। यद्यपि यह कठिन क्रिया है, पर ऐसा करने पर गुह्यनी नाड़ी जाग्रत हो जाती है और वह उस प्रचंड ताप को प्रवाह देने में समर्थ हो पाती है।"

इसके बाद कुछ दिनों तक गुरुदेव हमें नर्मदा के उस किनारे ले जाते और इस आग्नेय दृष्टि का अभ्यास कराते। उन्होंने गुह्यनी नाड़ी को जाग्रत करने का भी ज्ञान दिया और उन सारी योग की स्थितियों को समझाया, जो इसके लिए आवश्यक होती है।

अमृत प्लावन

गुरुदेव से कुछ शिष्यों ने ऊर्ध्वरिता साधना भी सिद्ध की थी, जो योग की अत्यन्त उच्च अवस्था है और इसके माध्यम से योगी हर क्षण अमृत पान करता रहता है।

एक दिन हमने गुरुदेव से इस सम्बन्ध में जिज्ञासा की कि ऊर्ध्वरिता किस प्रकार से सम्भव है, तो उन्होंने समझाते हुए कहा कि यह योग की उच्चावस्था है और सामान्य योगी के लिए यह सम्भव नहीं।

फिर इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया कि पूरे शरीर को वाहक रखने के लिए इड़ा और पिंगला दो नाड़ियां हैं, जो कि मूलाधार से प्रवाहित होती हैं। यहीं से वे शरीर का सत्त्व लेकर अग्रसर होती हैं, परन्तु पिंगला पूर्ण रूप से उस सत्त्व को वीर्य रूप में परिणत कर नीचे की ओर उतार देती है, जिसे स्खलन कहते हैं। यह गृहस्थ जीवन का प्रारम्भ है।

परन्तु योगी पिंगला को वहीं से मोड़कर इड़ा में जोड़ देते हैं। फलस्वरूप वंश शरीर का तत्त्व सीधे जाकर स्खलित नहीं होता, अपितु वायवीय होकर ऊपर

की ओर बढ़ता है। यह योगावस्था है।

इस प्रकार जब वीर्य वायवीय होकर ऊपर की ओर उठता है, तो धीरे-धीरे उसका निर्जरण अमृत तत्त्व के रूप में चित्त और नाभि पर होता रहता है। यह अमृत पान है और इससे व्यक्ति की मृत्यु नहीं होती और न उसे वृद्धावस्था या कोई बीमारी ही व्याप्त होती है।

ऐसा योगी जितने वर्षों की भी चाहे समाधि ले सकता है। जब तक वह समाधि अवस्था में रहता है। तब तक उसके लिए कालखंड रुक जाता है और काल का कोई प्रभाव उस पर व्याप्त नहीं होता।

यह योग की सूक्ष्म व्याख्या थी और इसका क्रियात्मक रूप निश्चय ही कठिन है, पर इसके माध्यम से योगी शिवत्व बन जाता है। मृत्यु उस पर किसी प्रकार का कोई प्रभाव नहीं डाल सकती। वह निर्विकार, जरा-मरण से रहित, पूर्णत्व प्राप्त योगी हो जाता है।

देह बाबा इतने उच्च कोटि के योगी थे, परन्तु उनका स्वभाव खिलन्दड़ा-सा था। वह किसी के भी साथ तुरन्त मिल जाते थे और उसी के अनुसार बन जाते थे।

एक बार हम अट्ठारह-बीस शिष्य देह बाबा के साथ नर्मदा के किनारे घूमते-घूमते काफ़ी दूर चले गए। वहीं पर एक बाल्टी और लोटा पड़ा था। शायद कोई भूल गया होगा। उसके पास ही पहाड़ी चट्टान थी और चारों तरफ़ प्रकृति का अत्यन्त सुन्दर दृश्य दिखाई दे रहा था।

हमने देह बाबा से उर्ध्वरेता योग-क्रिया के बारे में पूछा, तो उन्होंने बताया, "जब शरीर का सत्त्व-वीर्य स्खलित नहीं होता, तो धीरे-धीरे वह वायवीय होकर ऊपर रहता है, और इकट्ठा होता रहता है। इससे एक निश्चित समय के बाद योगी रससिद्ध हो जाता है।"

उन्होंने हमसे कहा, "आप लोग कहें, तो मैं प्रत्यक्ष करके दिखा दूं।"

हमको कौतूहल था कि उर्ध्वरेता को प्रत्यक्ष करके क्या दिखा सकते हैं। उन्होंने बाल्टी मंगाई और चट्टान पर दोनों पैर फैलाकर बैठ गए। धोती उतार ली और पुरुषेन्द्रिय को बाल्टी के किनारे टिकाकर आंखें बन्द कर बैठ गए। ऐसा लग रहा था कि वे अपने शरीर की समस्त नाड़ियों का दोहन कर रहे हों।

धीरे-धीरे उनके पुरुषेन्द्रिय से वीर्य स्खलित होने लगा और पन्द्रह मिनट के भीतर-भीतर वह बाल्टी किनारे तक भर गई।

सामान्य स्थिति में उस बाल्टी में दस-बारह किलो पानी आ सकता है। ऐसी बाल्टी स्वच्छ, पारदर्शी वीर्य से भर गई, तो उन्होंने आंखें खोलीं और कहा, "यही रस है और यदि स्खलित नहीं होता, तो प्रकृति स्वप्नदोष के माध्यम से प्रवाहित कर देती है।

"पर योगी इसे इड़ा और पिंगला के माध्यम से वायवीय बनाकर पूरे शरीर में समाहित कर देता है, जिससे कि उसका शरीर कालजयी बन जाता है। मैंने इस वायवीय रस को ही पुनः द्रव्यभूत करके इस बाल्टी में डाला है।"

उसके बाद वे पुनः नेत्र बन्द कर योग की विशेष क्रिया में संलग्न हो गए और अपनी पुरुषेन्द्रिय के माध्यम से ही उस वीर्य को लिंग के द्वारा खींचकर अपने शरीर में समाहित कर लिया। इस पूरी प्रक्रिया में उन्हें पांच मिनट से ज़्यादा समय नहीं लगा।

योग का एक नया अध्याय हमारे सामने खुला। किस प्रकार एक योगी शरीर के सत्व को वायवीय बनाकर पूरे शरीर में समाहित करता है और कालजयी बनता है, यह हमारे सामने प्रत्यक्ष था।

हमने इस अवधि में कई बार देखा कि वे समाधि में लीन हो जाते और दो-दो, तीन-तीन दिन अडिग-अविचल एक ही आसन पर स्थिर बैठे रहते। इस अवधि में उनके गले में यदि कोई माला पड़ी होती, तो तीन-चार दिन बाद जब भी उनकी समाधि टूटती, तब तक वह माला ज्यों की त्यों बनी रहती। उसके फूल कुम्हलाते नहीं।

ये कहा करते थे, "ये फूल इसलिए नहीं मुरझाए हैं कि इस कालखंड का मेरे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। मैंने जिस कालक्षण में समाधि ली थी, उसी कालक्षण में समाधि खोलता हूं। बीच का अन्तराल मेरे लिए नगण्य हो जाता है।"

एक बार मैं और देह बाबा मकान के ऊपरी कमरे में बैठे हुए थे। पास में ही एक सन्तरा पड़ा हुआ था। देह बाबा ने कहा, "इसको छील दे।"

तभी उनकी समाधि लग गई और वह समाधि छठे दिन खुली। दिन में तीन-चार बार मैं ऊपर जाता और उन्हें देखता। वे समाधिस्थ बने रहते। जब

छठे दिन उनकी समाधि खुली, तब मैं संयोगवश उनके पास ही बैठा हुआ था। समाधि खुलते ही उन्होंने पूछा, "सन्तरा छील दिया?"

मैंने कहा, "वह तो उसी समय छील दिया था।"

उन्होंने कहा, "उसी समय कब, मैंने तो अभी कहा था।"

अब मैं समझ गया कि देह बाबा जिस क्षण में समाधिस्थ हुए थे, यद्यपि हम साधारण लोगों के लिए इसके बाद छः दिन व्यतीत हो गए थे, पर बाबा के लिए तो वही क्षण था और उसी क्षण में उन्होंने पुनः समाधि खोली थी।

इसके अलावा भी देह बाबा ने योग की कई क्रियाएं और चमत्कार हम लोगों को करके दिखाए, और ये क्रियाएं वे सब सहज स्वाभाविक रूप से कर देते थे, इसके लिए उन्हें कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता था।

श्रीराम दर्शन

उन दिनों हम चित्रकूट में थे और गंगा के किनारे नित्य शाम को कुछ समय बिताते।

वहीं पर एक वृद्धा मां नित्य गुरुदेव से मिलने के लिए आती और जब तक वह वहां रहती तब तक सफ़ाई करती ही रहती। सेवा में उसका बहुत मन लगता था। उसके मुख से प्रतिक्षण 'श्रीराम, श्रीराम' निकलता रहता।

एक दिन उसने कहा, "मेरे तो इष्ट श्रीराम हैं और चित्रकूट में पूरा जीवन बिता दिया है। कभी भी मेरे राम ने दर्शन ही नहीं दिए, जब कि मैं रोज़ शाम को उनके लिए घी और गुड़ डालकर चूरमा बनाकर रखती हूं; रोज़ सुबह मैं उदास हो जाती हूं कि विश्वामित्र के साथ घूमने वाले मेरे छोटे-छोटे राम-लक्ष्मण तो आए ही नहीं।"

गुरुदेव ने वृद्धा को अपने पास बिठाया और दोनों भौंहों के बीच रूप-चिन्तन करने की विधि सिखाई। साथ ही अपने हाथ के अंगूठे से उसके भ्रूमध्य को खोल दिया। एक ही क्षण में उसे ऐसा लगा कि जैसे अन्दर प्रकाश-ही-प्रकाश हो गया है। गुरुदेव ने उसे एक विशिष्ट राम मन्त्र देते हुए कहा, "आज रात्रि को तू इस मन्त्र का जप बराबर करती रहना, पर अपनी आंखें बन्द रखना।"

वृद्धा गुरुदेव के पास से चली गई और इसके बाद लगभग आठ-दस दिन बीत गए, वह पुनः आई ही नहीं। हम सब शिष्य उत्सुक थे कि उसका और उसके श्रीराम का क्या हुआ?

एक दिन गुरुदेव की आज्ञा लेकर हमने उस वृद्धा को ढूंढ़ निकाला और गुरुदेव के पास ले आए।

गुरुदेव ने कहा, "क्या बात है? उसके बाद तू आई ही नहीं।"

वृद्धा ने जवाब दिया, "मैं क्या आती, मुझे तो एक क्षण का भी समय नहीं मिला। उस रात्रि को जब आपने मन्त्र जप करने के लिए कहा था, तो मैं बराबर मन्त्र जप कर रही थी। तभी मैंने देखा कि थके हुए राम और लक्ष्मण आ रहे हैं। उनके कन्धों पर धनुष लटका हुआ था। पैर थके हुए थे और चेहरा कुम्हलाया हुआ था।"

"उस दिन मैंने जल से दोनों के पैर धोए, पांवों में कुछ कांटे गड़ गए थे उन्हें निकाला और खाना खिलाया। फिर मैंने दोनों तरफ़ रुई की बनाई हुई गद्दियां बिछा दीं और उस पर वे लेट गए।"

"आज आपका यह शिष्य बुलाने के लिए आया, तो मैं सब काम छोड़कर आपके पास आई हूं। देखो, दोपहर ढल रही है अभी रात को राम-लक्ष्मण आते होंगे। पूरी तैयारी नहीं हुई तो वे क्या सोचेंगे?"

हम सब उस वृद्धा के ममत्व से अभिभूत हो रहे थे और उसके सौभाग्य पर ईर्ष्या कर रहे थे। यह वृद्धा कितनी सौभाग्यशाली है कि इसने अपने जीवन में भगवान श्रीराम और लक्ष्मण के दर्शन किए हैं, उनके पांव धोए हैं, अपने हाथों से उन्हें भोजन कराया है।

गुरुदेव ने उसे विदा कर दिया, इसके बाद भी हम जब तक वहां रहे, वह दो-तीन दिन छोड़कर आ जाती। कभी कहती, "आज लक्ष्मण से झगड़ा हो गया है। बहुत गुस्सा करता है। मैं तो आज उससे बात नहीं करूंगी। वह अपने-आप को समझता क्या है!" कभी वह श्रीराम से हुई बातचीत सुनाती और जब तक हमारे पास रहती उनकी चर्चा करती ही रहती।

गुरुदेव ने इसकी व्याख्या करते हुए बताया था कि "साधना में ही एक विशिष्ट क्रम 'रूप-दर्शन' है, जिसे भ्रूमध्य में स्थापित करना पड़ता है। जिन्होंने

योग साधना सम्पन्न की है, वे अपने इष्ट के रूप को भ्रूमध्य में स्थापित कर सकते हैं या योगी किसी भी भ्रूमध्य से उसके इष्ट के रूप को स्थापित कर सकता है। मैंने भी ऐसा ही किया और उसी के फलस्वरूप इसे अपने इष्ट के साक्षात दर्शन हो सके। यह आध्यात्मिक साधना है और इसमें गुरु साधक को बाह्य संसार की अपेक्षा अन्तर में जाग्रत कर भ्रूमध्य में रूप-दर्शन को स्थापित कर देते हैं। वास्तव में वह साधना जीवन की महत्त्वपूर्ण साधना है और इससे भक्त और भगवान का पूर्णतः तादात्म्य बन सकता है।

शून्य आसन

केदारनाथ चार महत्त्वपूर्ण धामों में से एक है। यह भगवान शंकर का पुण्य क्षेत्र है। और यहां वे मां पार्वती के साथ नित्य विचरण करते रहते हैं। यह हिमालय का इतना सुन्दर अलौकिक और रमणीय स्थान है कि बहुत ही कम स्थान विश्व में ऐसे होंगे जो इसकी समानता कर सकें।

यहां पर भगवान शिव की पीठ पूजा होती है और श्रद्धालु यहां पीठ पर घी मलते हैं। भगवद्पाद शंकराचार्य ने इस मन्दिर का पुनरुद्धार किया था, और तब से वहां हजारों-हज़ार तीर्थ-यात्री प्रति वर्ष आते हैं और 'केदारनाथ की जय' के उद्घोष के साथ अपनी आंखों को तृप्त करते हैं।

मन्दिर के बाहर ही यमुना नदी बहती है, जो कि अत्यन्त ही क्षीण कलेवर में पहाड़ों से उतरकर ज़मीन पर पांव रखती हुई, धीरे-धीरे आगे बढ़ती है। यहीं पर अधिक महत्त्वपूर्ण तप्त कुंड है, जिसका पानी अत्यधिक गर्म रहता है। यह पानी इतना अधिक गर्म है कि यदि गमछे में चावल बांधकर इस पानी में लटका दिए जाएं, तो कुछ ही मिनटों में पक जाते हैं।

मन्दिर के पीछे ही युगपुरुष शंकराचार्य का देहावसान स्थल है। यहीं पर उन्होंने 32 वर्ष की अवस्था में शरीर छोड़ा था। यह सारा स्थान अपने-आप में ही अलौकिक और अनिर्वचनीय है। यहां जाने पर स्वतः मन में आध्यात्मिक भावना जाग्रत हो जाती है और मन वहीं टिक जाने को होता है।

हम सब केदारनाथ के पीछे स्थित शंकराचार्य स्थल के पास एक पहाड़ की चट्टान पर बैठे हुए थे। चर्चा के दौरान पूज्य गुरुदेव ने कहा, "जहां पर हम लोग बैठे हैं यह स्थान निश्चय ही प्रकृति से समृद्ध है, परन्तु इससे पहले

भी यहां पर कई संस्कृतियां-सभ्यताएं आ चुकी हैं, और पृथ्वी का कोई ऐसा [illegible] नहीं है, जहां पर आसुरी सभ्यता ने पांव नहीं रखे हों।"

उन्होंने शंकराचार्य की चर्चा करते हुए कहा कि "यहां आकर शंकरा[illegible] को अनुभव हुआ कि पूरी पृथ्वी पर अंगूठा रखने लायक भी कोई स्थान [illegible] नहीं है, जो पूर्णतः पवित्र हो और जहां कभी किसी का रक्त न बहा हो। [illegible] अनार्य, हूण आदि कई संस्कृतियां आती गईं, पनपती गईं और मर-कटकर मि[illegible] गईं। उनका रक्त पूरी पृथ्वी पर बिखरा हुआ पड़ा है। दूसरे शब्दों में कहा [illegible] तो ऐसा कोई स्थान नहीं बचा है, जो निर्दोष व पवित्र हो, जहां पर बैठकर सा[illegible] सम्पन्न की जा सके।

"इसीलिए भगवत्पाद शंकराचार्य ने शून्य में ही अपना आसन बि[illegible] कुछ उच्चकोटि की साधनाएं सम्पन्न की थीं।"

मैंने पूछा, "क्या कुछ ऐसी भी साधनाएं हैं, जो इस ज़मीन पर बैठकर स[illegible] नहीं हो सकतीं।"

गुरुदेव ने उत्तर दिया, "कुछ ऐसी दिव्य, उदात्त और पवित्र साधना[illegible] जो दूषित पृथ्वी पर बैठने से सिद्ध नहीं हो पातीं। ऐसी साधनाएं तो सिद्धा[illegible] की भूमि पर ही सिद्ध हो सकती हैं, पर जो लोग अभी तक सिद्धाश्रम नहीं [illegible] सके हैं या सिद्धाश्रम पर साधना नहीं कर सके हैं, उनके लिए तो एकमात्र [illegible] यही बचता है कि वे शून्य में ही अपना आसन बिछावें और साधना स[illegible] करें।"

मैंने पूछा, "आपने शून्य आसन शब्द का प्रयोग किया, परन्तु क्या [illegible] कोई विशिष्ट साधना है?"

गुरुदेव ने उत्तर दिया, "यह शुद्ध सात्त्विक योगबल है। योग के मा[illegible] से शरीर को संयोजित कर इस क्रिया से सफलता पाई जाती है।"

फिर अपने कथन को स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया कि गर्मी पाकर [illegible] भी पदार्थ ऊपर की ओर उठता है। यदि गुब्बारे में हीलियम गैस भरी जाए, [illegible] कि ऑक्सीजन से हल्की होती है, और उसे छोड़ दिया जाए, तो वह गुब्बा[illegible] ऊपर की ओर उठेगा। यदि उस बड़े गुब्बारे के साथ किसी मनुष्य को बांध दि[illegible] जाए तो वह भी गुब्बारे के साथ-साथ हवा में ऊपर उठ जाएगा।

मनुष्य के शरीर में भी प्रचंड गर्मी है और ऑक्सीजन के प्रभाव से उस गर्मी में प्रदीप्तता आती है। प्राणायाम की मूल तीन क्रियाएं हैं — पूरक, कुम्भक तथा रोचक। पूरक से हम प्राणवायु को अपने शरीर के अन्दर लेते हैं तथा कुम्भक के द्वारा उसे नाभि के आसपास स्थिर करते हैं।

इस स्थिरीकरण प्रक्रिया के बाद उस वायु को नाभि के चारों ओर वर्तुलाकार पूरी तेज़ी के साथ घुमाते हैं, जिस प्रकार वायुयान को ऊपर उठाने के लिए उसके पंखे घूमते हैं। जब नाभि वर्तुलाकर बहुत तेज़ी से घूमती है, तो कुम्भक के द्वारा जो प्राणवायु संचयित होती है, वह अत्यधिक गर्म होकर ऑक्सीजन से भी कई गुना हल्की हो जाती है और ऊपर की ओर उठती है। पर चूंकि वह कुम्भक के द्वारा आबद्ध होती है, इसीलिए उसे बाहर निकालने का कोई रास्ता नहीं मिलता, पर उसके ऊपर उठने की प्रक्रिया बराबर बनी रहती है। फलस्वरूप वह सम्बन्धित व्यक्ति को भी अपने साथ ऊपर उठा लेती है।

इसी पद्धति पर वायुयान निर्माण प्रक्रिया बनी होगी। यह क्रिया अत्यधिक सरल है, परन्तु गुरु द्वारा ही इस प्रक्रिया को भली प्रकार से समझा जा सकता है। नाभि का वर्तुलाकार घूमना ही इसमें महत्त्वपूर्ण है। यदि उसकी गति बहुत ज़्यादा होती है, तो सम्बन्धित साधक भी बहुत ऊंचाई की ओर उठ जाता है। फिर इसकी गति ज्यों-ज्यों कम की जाती है, त्यों-त्यों व्यक्ति नीचे की ओर उतरता है। इसी गति पर सब-कुछ सम्भव होता है।

मेरे सामने योग का एक और अध्याय खुल रहा था। पूज्य गुरुदेव हमारे सामने ही पद्मासन लगाकर बैठ गए। आंखें बन्द कर लीं और पेट को अन्दर की ओर सिकोड़ लिया। वहां बहुत बड़ा गड्ढा बन गया। पूरा पेट कोटर की तरह दिखाई दे रहा था।

तत्पश्चात उन्होंने पूरक करने के बाद कुम्भक क्रिया की, और नाभिक प्रवेश को वर्तुलाकार घुमाना प्रारम्भ किया।

हम देख रहे थे कि नाभि के पास जो गोला होता है, या जो नाड़ियां का गुच्छ समूह होता है, वह नाभि के चारों ओर तेज़ी से घूम रहा था।

कुछ क्षण वह गुच्छ समूह तेज़ी पकड़ता गया।

हमने आश्चर्य के साथ देखा कि पूज्य गुरुदेव का सारा शरीर धीरे-धीरे

उस चट्टान से ऊपर उठ रहा है।

पूज्य गुरुदेव लगभग पांच फुट तक ऊपर उठे और फिर उन्होंने अपनी आंखें खोल दीं।

गुरुदेव बोले, "मैंने इस वर्तुल को स्थिर कर दिया है, अब यह इसी गति से बराबर घूमता रहेगा। इसके घूमने का प्रभाव मुझ पर कुछ नहीं है। अब मैं स्वतन्त्र हूं। यह गुच्छ समूह वर्तुलाकार रूप में अपना काम कर रहा है और मैं चाहूं तो अपनी किसी साधना में बैठ सकता हूं।"

हमने देखा कि पूज्य गुरुदेव सहज स्वाभाविक रूप से हमसे बातचीत कर रहे हैं, उन्हें वहां स्थिर होने में किसी प्रकार का अतिरिक्त परिश्रम नहीं करना पड़ रहा था, वे अत्यन्त ही स्वाभाविक थे।

लगभग दस मिनट तक वे इसी प्रकार शून्य में ही स्थिर रहे। ऐसा लग रहा था जैसे वहां पर आसन बिछा दिया हो और उस पर बैठे हों। गुरुदेव ने कहा, "यह शून्य आसन है और योगियों के लिए यही आसन सर्वाधिक उपयुक्त है। ऐसे आसन पर बैठकर ब्रह्म से सम्बन्धित साधनाएं और अन्य कई दिव्य साधनाएं सम्पन्न की जा सकती हैं।"

इसके बाद जब उन्होंने योग का शिक्षण प्रारम्भ किया, तो इस क्रिया पद्धति को भी हमें सिखाया और हमने देखा कि यह आसन ज़्यादा अनुकूल और सुखदायक हैं। समाज की विसंगतियों का यहां पर कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा है। पृथ्वी की दूषिताओं का प्रभाव भी यहां नहीं है। वास्तव में ही ऐसा आसन किसी भी प्रकार की साधना के लिए उपयुक्त है।

शून्य मार्ग

केदारनाथ के पास हम लगभग दो महीने तक रहे। गुरुदेव ने एक दिन चर्चा के दौरान बताया कि केदारनाथ के पीछे जो पहाड़ दिखाई दे रहा है, इसको यदि यहीं से पार किया जाए, तो इसके पीछे ही बदरीनाथ आश्रम है।

कुछ दिनों पूर्व हम इसी मार्ग से बदरीनाथ को आए थे। यह अनुभव भी काफ़ी रोमांचक रहा।

जब हम केदारनाथ के पास ठहरे हुए थे, तो गुरुदेव कुछ दिनों से योग-

मार्ग की शिक्षा हम लोगों को देने लगे थे। एक दिन हमने पूछा, "यदि योग के द्वारा शून्य में ही स्थिर आसन लगाया जा सकता है, तो क्या योग-मार्ग से साधक एक स्थान से दूसरे स्थान तक यात्रा कर सकता है?"

उन्होंने उत्तर दिया, "अवश्य ही। यह योग की एक विशिष्ट क्रिया है और इस क्रिया को सम्पन्न करने पर साधक शून्य मार्ग से ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर अपने साथ जितना भी चाहे सामान लेकर यात्रा कर सकता है और यह यात्रा कुछ ही क्षणों में सम्पन्न हो जाती है।"

उन्होंने बताया कि सम्पूर्ण वायुमंडल में 'ईथर' नामक पदार्थ होता है, जो एक सेकंड के हज़ारवें हिस्से में पृथ्वी के तीन चक्कर लगा लेता है। मनुष्य या साधक भी इस क्रिया के द्वारा ईथर संवाहक बन जाता है अर्थात ईथर के समान उसकी भी गति हो जाती है।

इस क्रिया को समझाते हुए उन्होंने बताया कि जब साधक शून्य आसन सिद्ध कर लेता है, तब वह इस नाभि के चारों ओर सम्पन्न होने वाले वर्तुल में योग पद्धति से इड़ा और पिंगला का भी समन्वय कर लेता है। फलस्वरूप सारा शरीर वायु से भी अत्यन्त हल्का और गतिवान बन जाता है। तब साधक स्वयं या अपने साथ सामान लेकर जितनी भी ऊंचाई पर जाना चाहे जा सकता है और एक स्थान से दूसरे स्थान पर कुछ ही सेकंडों में पहुंच सकता है और वहां से सामान लेकर आ सकता है।

इस पूरी क्रिया में उसका सारा शरीर लौहवत आबद्ध रहता है। वायु उसके शरीर को नुकसान नहीं पहुंचा सकती, न शरीर से किसी प्रकार का क्षरण होता है। इसी स्थिति में वह शून्य पथ से एक स्थान से दूसरे स्थान की तरफ़ जाने में समर्थ हो पाता है।

उन्होंने बताया कि यह सारा कार्य साधक की इच्छा के वशवर्ती हो जाता है, क्योंकि सारी क्रिया को वह अन्दर से समाहित करता है। जब उसकी गति को कम कर इड़ा-पिंगला को उस गति से अलग कर देता है, तो मनुष्य का शरीर धीरे-धीरे उतर आता है। हज़ारों मील की यात्रा केवल कुछ क्षणों से ही सम्पादित हो जाती है।

उन्होंने बताया कि साधारण लोग इस बात को कपोल-कल्पित मान सकते

हैं, परन्तु योगी उनकी परवाह नहीं करते। वे अपनी ही साधनाओं और अपने ही लोक में रहते हैं। उनके लिए कुछ भी अगम या दुष्कर नहीं।

उन्होंने बताया, "मैं इस क्रिया को आपके सामने कर रहा हूं। पिछले दिनों जब शून्य आसन क्रिया सिद्ध की थी, तो उसमें मात्र पूरक प्राणवायु को गति ही देना था। पर इस क्रिया में उस गति के साथ-साथ इड़ा-पिंगला का समन्वय भी करना है, जिससे कि यह शरीर लौहवत बनकर ईथरयुक्त हो सके और इसमें तीव्रतम गति आ सके।"

ऐसा कहकर वे आसन पर स्थिर बैठ गए। अपने साथ कमंडलु, दंड और व्याघ्र-चर्म रख दिया और बोले, "मैं यहां से चार हज़ार किलोमीटर दूर एक शिष्य के यहां जा रहा हूं, जिसका पुत्र अत्यधिक रुग्ण है। उसे औषधि देकर पुनः यहीं पर आ रहा हूं।"

हमने देखा कि गुरुदेव अपने पेट को अन्दर की ओर नाभि के चारों ओर वर्तुल करते हुए अत्यधिक उन्मुख होने की क्रिया से संलग्न थे। इसके बाद हमने देखा कि वे धीरे-धीरे ऊपर उठ रहे हैं। उनके आसन पर जो सामान रखा हुआ था, वह भी उनके साथ ही उठ रहा था। कुछ ही सेकंडों में वे तीव्र गति से शून्य में ऊपर उठ गए, पहले तो वे दिखाई देते रहे, फिर बिन्दुवत दिखाई देते-देते शून्य में विलीन हो गए।

हमने अनुभव किया कि साधना और सिद्धियों का महत्त्व तो जीवन में है ही, परन्तु योगमार्ग भी अपने-आप में अत्यधिक सिद्धिदायक है। इससे पूरा शरीर आबद्ध होता है और व्यक्ति प्रकृति से भी परे हो सकता है।

संभवतः दस मिनट भी नहीं बीते होंगे कि दूर से एक छोटा-सा धब्बा उतरता हुआ दिखाई दिया, फिर धीरे-धीरे यह स्पष्ट हुआ और कुछ ही सेकंडों में हमने देखा कि पूज्य गुरुदेव किसी एक शिष्य के साथ हमारे सामने ही उसी जगह आकर बैठ गए हैं, जहां से वे ऊपर की ओर उठे थे। इस सारे अन्तराल में दस मिनट से ज्यादा नहीं लगा होगा।

गुरुदेव ने स्पष्ट किया कि पांच मिनट तो दवा देने और इसे अपने साथ लाने में लग गए, अन्यथा इतना भी समय नहीं लगता। यह यहां से पांच हजार किलोमीटर दूर रहता है और इसी का पुत्र अत्यधिक रुग्ण था। इसकी तीव्र इच्छा

मेरे साथ ही भगवान केदारनाथ के दर्शन करने की थी, और मैंने कुछ समय पहले इससे वायदा भी कर रखा था, इसीलिए इसे आज अपने साथ लेता आया हूं।

उसने कहा, "मैं तो अनुमान ही नहीं लगा पा रहा था कि पूज्य गुरुदेव अकस्मात मेरे घर में प्रकट होंगे और अपने हाथों से पुत्र को औषधि देकर प्राणदान देंगे। पूज्य गुरुदेव की यह असीम कृपा है। यह मेरा सौभाग्य है कि पूज्य गुरुदेव मुझे अपने साथ लाए हैं, पर मुझे तो कुछ भी पता नहीं चला। मुझे तो यह कहा कि तुम्हें इस आसन पर नेत्र बन्द कर बैठ जाना है, हम थोड़ी देर में ही चलते हैं। मैं आंखें बन्द करके बैठ गया और जब आंखें खोलीं, तो आप लोगों के सामने हूं।"

हम समझ गए कि अभी तक यह शिष्य शून्य मार्ग का अधिकारी नहीं है और नेत्र खुले होने पर कहीं भयभीत होकर घबराने न लग जाए, इसीलिए इसे नेत्र बन्द करने के लिए कहा होगा।

स्वामी जी ने व्याख्या स्पष्ट करते हुए कहा कि "इस सारी प्रक्रिया में किसी प्रकार की कोई साधना या सिद्धि नहीं है, अपितु पूरे शरीर को नियन्त्रित कर इड़ा-पिंगला को समन्वित करना है। ऐसा होते ही पूरा शरीर वेगवान बन जाता है। मैंने वैसा ही आपके सामने किया है।"

वास्तव में ही योग के क्षेत्र में गुरुदेव ने जो असीम शक्ति प्रदान की है, वह आश्चर्यजनक है। प्राचीन समय में भी नारद आदि इसी प्रणाली से एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाते थे। उच्चकोटि के महर्षियों और योगियों ने भी इसी पथ का अवलम्बन किया था।

अद्वैत रूप

संक्रान्ति के अवसर पर हम उन दिनों गंगासागर में थे। गोमुख से गंगा निकलकर, यहीं पर पूर्ण रूप से विलीन हो जाती है, इसीलिए इसका नाम गंगासागर है। कलकत्ता से हावड़ा होते हुए काक द्वीप जाते हैं, और यहीं से नावों द्वारा समुद्र का कुछ भाग पार कर गंगासागर पहुंचना होता है। यहां पर कपिल मुनि का आश्रम है और साल में एक बार संक्रान्ति के अवसर पर मेला लगता है। पूरे भारतवर्ष से श्रद्धालु भक्त गंगासागर में 'स्नान करने के लिए' यहां आते हैं।

उन दिनों पन्द्रह-बीस शिष्यों के साथ गुरुदेव गंगासागर की यात्रा पर थे।

वे गंगा से अत्यधिक प्रभावित रहे। वह उन्हें पवित्र और दिव्य अनुभव लगती रही।

एक दिन सुबह गुरुदेव गंगासागर तट पर भाव-विभोर होकर सौन्दर्य-लहरी के पद सस्वर उच्चारण कर रहे थे। उनका उच्चारण इतना अधिक मधुर और आनन्दप्रद था कि हम सब मन्त्रमुग्ध हो उसका अमृतपान कर रहे थे।

धनुः पौष्पं मौर्वी मधुकरमई पंच विशिखा
वसन्तः सामन्तो मलयमरुदायोधनरथः॥
तथाप्यातन्वानं हिमगिरिसुते कामपि कृपा-
मपांगं ते लब्ध्वा जगदिदमनंगो विजयते॥

मुखं बिन्दुं कृत्वा कुचयुगमधस्तस्य तदधो
हरार्धं ध्यायेद्यो हरमहिषि ते मन्मथबलाम्।
स सद्यः संक्षेमं नयति वनितास्त्वित्यति लघु
त्रिलोकीमप्याशु भ्रमयति रवीन्दुस्तनयुगाम्॥

भ्रुवांमध्ये किंचिद् भुवनभयभंगव्यसनिनि
त्वदीये नेत्राभ्यां मधुकररुचिभ्यां धृतशरम्।
धनुर्मन्ये सव्येतरकरगृहीतं रतिपतेः
प्रकोष्ठो मुष्टौ च स्थयति निगूढान्तरमुमे॥

अमु ते वक्षोजावमृतरसमणिक्यकुतपौ
न सन्देहस्पन्दो नगपतिपताके मनसि नः।
पिवन्तौ तौ यस्मादविदितवधूसंगमरसौ
कुमारावद्यापि द्विरदवदन क्रौंचदलनौ॥

यदेतत्कालिन्दीतनुतरंगाकृति शिवे
कृशे मध्ये किंचिज्जननि तव तद् भाति सुधियाम्॥
विमर्दादन्योन्यं कुचकलशयोरन्तरगतं
तनूभूतं व्योम प्रविशदिव नाभिं कुहरिणीम्॥

गाते-गाते पूज्य गुरुदेव भाव-विभोर हो गए थे, फिर कुछ क्षण रुके। सामने गंगा को समुद्र में विलीन होते हुए देखा और कहा, "गंगा भगवान शिव के सिर पर विराजमान हैं और जगत-जननी मां पार्वती उनके पार्श्व में स्थित हैं, परन्तु यहां

पर दोनों का ही पूर्ण समन्वय हो जाता है। गंगा ही पार्वती बन जाती है और पार्वती ही गंगा बन जाती है।"

फिर हमें सम्बोधित करते हुए कहा, "यदि तुम लोग ध्यान से इस गंगा और समुद्र के समन्वय को देखो तो ठीक वैसा ही दृश्य दिखाई देगा जैसा कि मां पार्वती का वर्णन शंकराचार्य ने सौन्दर्य-लहरी में किया है। यहां पर गंगा, गंगा नहीं रहती अपितु सोलह शृंगारपूर्ण मां पार्वती बन जाती है।"

हमने ध्यान से समुद्र में विलीन होती हुई गंगा को देखा, तो वास्तव में ही पूज्य गुरुदेव ने जो कुछ बताया था वैसा ही अनुभव होने लगा। ऐसा लगा जैसे लहरों पर मां पार्वती बैठी हुई हों।

यहां से हम लोग जगन्नाथपुरी पहुंचे। यह सही अर्थों में अद्वैत भाव का आश्रय-स्थल है। समुद्र के किनारे स्थित जगन्नाथपुरी अपने-आप में महत्त्वपूर्ण तीर्थ-स्थल है, जहां प्रतिवर्ष हजारों-हजार श्रद्धालु दर्शन करने के लिए आते हैं। यहां पर विशेष काष्ठ से निर्मित भगवान जगन्नाथ का विग्रह है, जिसके दर्शन कर जीवन उदात्त और धन्य बन जाता है।

यहां एक दिन समुद्र-तट पर गुरुदेव ने कुछ नवीन तथ्य स्पष्ट किए। उन्होंने कहा, "यह सही अर्थों में अद्वैत स्थल है। यहां पर किसी भी प्रकार का भेद-भाव नहीं होता। राजा, रंक, गरीब, अमीर — सभी समान रूप से भगवान जगन्नाथ की पूजा-अर्चना करते हैं। जीवन में वैराग्य प्राप्त करने के लिए और पूर्ण अद्वैत सिद्धि हेतु जगन्नाथ पुरी भारत की सर्वश्रेष्ठ पुरी है। यहां के वायुमंडल में ही कुछ ऐसी विशेषता है कि साधक का मन धीरे-धीरे साधना में लग जाता है और वह पूर्णता के साथ अपने-आप में ही समाहित होता हुआ अद्वैत बन जाता है।

उन्होंने बात को स्पष्ट करते हुए कहा, "जिस प्रकार काशी कालजयी पुरी है, जहां वास करने से काल का प्रभाव साधक पर व्याप्त नहीं होता, गंगासागर समन्वय स्थल है, यहां जीव का प्रकृति से समन्वय होता है। हरिद्वार हर और हरि की विभेद पुरी है जो कि शैव और वैष्णवों का समन्वय स्थल है। हरिद्वार से ही रास्ता हर अर्थात केदारनाथ की ओर जाता है, और हरि अर्थात बदरीनाथ की ओर जाता है। जिस प्रकार वृन्दावन नित्य लीलास्थल है, ठीक उसी प्रकार जगन्नाथपुरी अद्वैत स्थल है। यहां पर कुछ समय वास करने पर व्यक्ति का चित्त शुद्ध, परिष्कृत और अद्वैतमय बन जाता है।"

उनके कहने का भाव यह था कि जीवन-मुक्ति या मोक्ष के लिए अद्वैत स्थिति अनिवार्य है और व्यक्ति सप्रयास अद्वैत स्थिति में नहीं पहुंच सकता, योगियों की बात अलग है। परन्तु साधारण गृहस्थ के लिए ऐसा सामान्य सम्भव नहीं होता।

ऐसी स्थिति में गृहस्थों के लिए सर्वथा जीवन मुक्त और अद्वैत स्थिति में पहुंचने का एकमात्र रास्ता जगन्नाथपुरी की यात्रा ही होती है। इस यात्रा से व्यक्ति अद्वैत स्थिति में पहुंचकर जीवन मुक्त हो जाता है।

एक दिन गुरुदेव ने कहा, "समुद्र स्वतः अक्षय पात्र है। साधक को जिस वस्तु की भी आवश्यकता होती है, वह समुद्र से प्राप्त की जा सकती है। भगवान राम को भी विजय के लिए समुद्र का सहारा लेना पड़ा था, श्रीकृष्ण भी पूर्णत्व प्राप्ति के लिए समुद्र के किनारे ही जाकर बसे थे।"

फिर उन्होंने अक्षय पात्र की साधना समझाते हुए कहा, "विशेष मन्त्रों के द्वारा समुद्र को अपने आन्तरिक समुद्र से सम्बन्धित करना पड़ता है।" इसकी परिभाषा बताते हुए उन्होंने कहा, "यदि व्यक्ति के शरीर के अन्दर का विश्लेषण किया जाए, तो वह समुद्रवत ही स्पष्ट होता है। मानव शरीर में लगभग अस्सी प्रतिशत जल है। और इस जल के लक्षण, गुण और स्थिति भी ठीक वैसी ही है, जैसी समुद्र की होती है। यदि उस जल का रासायनिक विश्लेषण किया जाए, तो समुद्र जल के समान ही परिणाम प्राप्त होता है।"

जब आन्तरिक समुद्र का इस बाह्य समुद्र से सम्बन्ध स्थापित होता है, तो अक्षयपात्र स्थिति बनती है। ऐसी स्थिति में साधक जो भी कल्पना करता है, वह उसे प्राप्त हो जाता है।

उन्होंने समुद्र के किनारे की बालू-मिट्टी में आसन लगाया और उस पर दक्षिण दिशा की ओर मुंह करके बैठ गए। फिर सामने भूमि पर पंचकोणयुक्त सप्त यन्त्र निर्मित किया और समुद्र जल से ही उसका पूजन किया। तत्पश्चात शारीरिक योग से सम्बन्धित कुछ विशेष क्रिया सम्पन्न कर उन्होंने समुद्र से प्राप्त छोटे-छोटे शंखों को अंजुलि में भरकर ज्यों ही समुद्र में उछाला, त्यों ही हमने देखा कि एक विशेष शंख-पात्र जवाहरात के साथ आकर गुरुदेव के चरणों के पास स्थिर हो गया। ऐसा लगा जैसे समुद्र स्वयं अपने हाथों से शंख-पात्र में जवाहरात लेकर अभ्यर्थना के लिए उपस्थित हुआ हो।

गुरुदेव ने कहा, "मैंने कुछ रत्नों के बारे में समुद्र से कहा और अक्षयपात्र के रूप में वह सामने है। इस अक्षयपात्र के माध्यम से संसार की कोई भी दुर्लभ वस्तु प्राप्त की जा सकती है।"

फिर उन्होंने कृपा कर एक-एक रत्न हम सब शिष्यों को दे दिया और शंख से निर्मित अद्वितीय पात्र भी मेरे हाथों में दिया।

वस्तुतः शंख-पात्र साधना में कुछ विशिष्ट क्रियाओं के साथ ज्यों ही 'चिन्तामणि समुद्र मन्त्र' से लघु शंख समुद्र में प्रवाहित किए जाते हैं, त्यों ही अक्षयपात्र स्थिति सिद्ध हो जाती है।

बाद में गुरुदेव ने चिन्तामणि समुद्र को भी हमारे सामने स्पष्ट किया था —

ओऽम् ह्रीं श्रीं चिन्तामणिसमुद्र वांछितार्थ पूरय पूरय लक्ष्मीदायक ऋद्धिं
वृद्धिं कुरु कुरु सर्वसौख्यं सौभाग्यं कुरु कुरु स्वाहा श्रीं ह्रीं ॐ।

शारीरिक अक्षयपात्र क्रियाएं इसके साथ ही जो गुरुदेव ने स्पष्ट की थीं, वे भी सहज सम्भव हैं और बाद में किंकर बाबा और मैंने गुरुदेव के सान्निध्य में सिद्ध की थी, परन्तु गुरुदेव ने इन क्रियाओं को गोपनीय ही रखने का आदेश दिया था, फलस्वरूप मैं उन्हें ज़्यादा विस्तार से स्पष्ट नहीं कर पा रहा हूं।

परन्तु मैंने यह अनुभव किया है कि यदि समुद्र तट पर उपर्युक्त मन्त्र का शंखमाला से जप किया जाए, तो उससे विचित्र अनुभव होते हैं और मनोवांछित सिद्धियां प्राप्त होती हैं।

उन दिनों हम पूना में थे और वहां पर पूज्य गुरुदेव का प्रवचन सप्ताह चल रहा था। एक दिन बम्बई से हरिराम चौरसिया आए। ये गुरुदेव के गृहस्थ शिष्य थे और आठ-दस वर्षों से गुरुदेव के सम्पर्क-साहचर्य में थे। उस दिन वे अत्यधिक व्यग्र दिखाई दे रहे थे।

गुरुदेव ने देखते ही कहा, "आओ चौरसिया, कैसे आना हुआ?"

चौरसिया ने जवाब दिया, "मुझे आपसे कुछ विशेष बातें करनी हैं। और मैं जल्दी ही आपसे समय चाहता हूं।"

गुरुदेव ने दो क्षण उसकी तरफ देखा, बोले, "जल्दी समय चाहता है तो बोल, मैं तेरे सामने ही बैठा हूं।"

उस दिन वे कुछ अजीब ही स्थिति में थे। बोले, "मैं एकान्त में कुछ कहना चाहता हूं।"

गुरुदेव ने कहा, "संन्यासी के लिए कोई एकान्त स्थान नहीं होता और प्रत्येक स्थान एकान्त होता है। ये सब शिष्य बैठे हुए हैं, तुम अपनी बात बिना संकोच कह सकते हो।"

चौरसिया जी ने जवाब दिया, "मैं लगभग दस-बारह वर्षों से आपके पास आता-जाता रहा हूं और मैंने पहले ही दिन आपसे कह दिया था कि मैं कुंडलिनी जागरण करना चाहता हूं, परन्तु इन बारह वर्षों में क्या हुआ? कुछ भी नहीं हो सका और न कुछ उम्मीद है। बम्बई में एक बंगाली साधु आए हुए हैं और वे केवल सौ रुपए में कुंडलिनी जागरण करवा देते हैं।"

स्वामी जी ने जवाब दिया, "तू पागल हो गया है, यह हाट-बाज़ार की वस्तु नहीं है, अगर सौ-दो सौ रुपए देने पर ही कुंडलिनी जागरण होती, तो प्रत्येक व्यक्ति अपनी कुंडलिनी जागरण करवा लेता। ऐसे लोग ठग होते हैं और शरीर में भूत आदि प्रवेश कराकर, शरीर को हिलाने-थरथराने और उछल-कूद कराने के लिए मजबूर कर देते हैं। पर यह शरीर का उछलना कुंडलिनी जागरण से नहीं, अपितु भूत आदि के द्वारा होता है।"

चौरसिया जी ने कहा, "शायद ऐसा नहीं होता होगा। वे केवल लंगोट ही लगाए हुए रहते हैं और कई लोगों का कुंडलिनी जागरण मेरे सामने किया है।"

गुरुदेव ने कहा, "यदि तुझे मेरी बात पर भरोसा नहीं हो, तो अभी यहां से चला जा और उनसे अपनी कुंडलिनी जागरण करवा ले। कुंडलिनी का वेग अत्यन्त तीव्र होता है और तुम्हारा शरीर गृहस्थ शरीर है। इस शरीर में इतनी ताक़त नहीं है कि वह कुंडलिनी के वेग को झेल सके। इसीलिए मैं गृहस्थ शिष्यों को इतनी जल्दी कुंडलिनी जागरण नहीं करवाता। पहले धीरे-धीरे उसके शरीर को दृढ़ करता हूं और जब अन्तर तथा बाह्य दोनों मज़बूत तथा दृढ़ हो जाते हैं तभी कुंडलिनी प्रयोग सम्पन्न करता हूं, जिससे कि उसका शरीर उसके वेग को झेल सके और अन्दर के सारे चक्र पूर्णता के साथ खुल सकें।

"तू साधारण गृहस्थ व्यक्ति है; योगी या संन्यासी नहीं। तेरे ऊपर बल-प्रयोग भी नहीं किया जा सकता। धीरे-धीरे मैं तेरे शरीर को सक्षम बना रहा हूं और

मुझे विश्वास है कि साल-दो साल में तू कुंडलिनी के वेग को झेलने में समर्थ हो सकेगा?"

चौरसिया जी ने कहा, "अभी दो-तीन साल और लगेंगे क्या? मैं दस-बारह वर्ष तो दे चुका।"

स्वामी जी को मामूली-सा ताव आ गया, फिर तुरन्त संयत हो गए। बोले, "फिर तू ऐसा कर, स्नान करके धोती पहनकर मेरे सामने आकर बैठ जा।"

चौरसिया जी अन्दर बाथरूम में गए और स्नान कर, धोती पहनकर नंगे बदन गुरुदेव के सामने आकर बैठ गए। हम सब शिष्य भी इनकें पास बैठे हुए थे।

चौरसिया जी को कहा, "तुझे और कुछ नहीं करना है। तू मेरी आंखों की ओर पांच-सात सेकंड ताक लेना।"

आसन पर गुरुदेव के सामने ही चौरसिया जी बैठ गए और गुरुदेव ने उसकी आंखों में ताककर ज्यों ही उसके शरीर को स्पर्श किया, त्यों ही उसे पूरे ज़ोर का धक्का लगा और ऐसा लगा जैसे पूरे शरीर को चार सौ चालीस वोल्ट का विद्युत प्रवाह लगा हो। दूसरे ही क्षण चौरसिया जी उस प्रहार से उछल पड़े और चार-पांच फ़ुट ऊंचे उछलकर फ़र्श पर गिर पड़े तथा साधनात्मक प्रवाह से बेहोश-से हो गए।

तीन दिन तक ऐसी ही स्थिति रही। हममें से दो शिष्यों की ड्यूटी लगा दी थी कि उनका ध्यान रखें। उन्हें अलग कमरे में ले जाकर पलंग पर लिटा दिया था। चौथे दिन वे थोड़े-थोड़े बड़बड़ाने-से लगे, और पांचवें दिन जाकर कुछ संयत हुए और आंखें खोलीं। पूछा, "मैं कहां हूं?"

हम लोगों ने कहा, "तुम अपनी कुंडलिनी जागरण करवा रहे हो।"

चौरसिया जी को सारी बात स्मरण हो आई और लज्जित से हो गए। उन्होंने कहा, "ज्यों ही गुरुदेव ने मेरे शरीर का स्पर्श किया, त्यों ही मुझे बिजली का बहुत ज़ोर से झटका लगा। ऐसा लगा जैसे मैं उछल जाऊंगा और मेरा सारा शरीर फट जाएगा। इसके बाद क्या हुआ मुझे अभी स्मरण नहीं है। परन्तु मेरा सारा शरीर तथा पोर-पोर दुख रहा है।"

उनकी कुंडलिनी तो जाग्रत हो गई थी, मगर वे छः महीनों तक शरीर फटने

की चर्चा करते रहे। प्रत्येक दिन उनको ऐसा लगता जैसे बहुत बड़ी शक्ति और प्रवाह उनके शरीर में आ गया है और बाहर निकलने के लिए व्यग्र है। वे क़रीब नीम बहोशी की-सी हालत में कई बार बने रहते।

गुरुदेव ने कहा, "कच्चे शरीर में कुंडलिनी प्रवाह करने से ऐसा ही होता है। जब तक शरीर उस शक्ति को धारण करने की क्षमता प्राप्त न कर ले, तब तक शरीर में प्रवाह प्राप्त करना उचित नहीं रहता।"

बाद में चौरसिया जी स्वस्थ व संयत रहे और व्यापार तथा साधना के क्षेत्र में बहुत नाम कमाया।

काल प्रवाह

एक बार मुझे पूज्य गुरुदेव के साथ मानसरोवर कैलास की यात्रा करने का अवसर मिला था। उस समय मैं अकेला ही उनके साथ था। जब हम मानसरोवर की पूरी परिक्रमा कर कैलास पर्वत की ओर बढ़ रहे थे, तभी गुरुदेव ने बातचीत के प्रसंग में कहा, "काल प्रवाह अनन्त होता है। सैकड़ों वर्षों की अवधि को एक क्षण में समेटा जा सकता है और एक क्षण को सैकड़ों वर्षों में विस्तृत किया जा सकता है।"

गुरुदेव एक सुन्दर-सी चट्टान पर बैठ गए थे। मैं भी उनके चरणों में बैठ गया था और उनके चरणों को अपनी गोदी में लेकर दबा रहा था। मैंने उत्तर दिया, "क्या सौ वर्षों को एक ही क्षण में समेटा जा सकता है?" उन्होंने उत्तर दिया, "क्या तुझे सन्देह है? अभी तक सही प्रकार से काल ज्ञान तुझे हो ही नहीं पाया है। जिस दिन काल पर विजय प्राप्त हो जाएगी, उस समय विश्व में कुछ भी दुर्लभ नहीं रहेगा।"

मेरी आंखों में संशय का भाव था। इसे गुरुदेव ने पहचान लिया। बोले, "तू मेरे पैर दबाना छोड़कर इधर ऊपर आ और चट्टान के इस तरफ़ आकर बैठ जा।"

गुरुदेव के बराबर बैठना मुझे कुछ उचित नहीं लगा, पर फिर भी उनकी आज्ञा थी, अतः अत्यधिक विनम्रता और संकोच से मैं चट्टान पर चढ़कर उनके बताए हुए स्थान पर बैठ गया। उन्होंने मुझे भृकुटी मध्य ध्यान लगाने के लिए कहा और फिर अपने दाहिने हाथ से मेरे सहस्रार को थपथपाकर दोनों भौंहों

के बीच अंगूठे से ज़ोर से मसल दिया।

इतना तो मुझे आभास था, पर इसके बाद क्या हुआ इसका मुझे कुछ भी पता न चला, पर जब मैंने आंखें खोलीं, तो ऐसा लगा जैसे समय का बहुत बड़ा हिस्सा व्यतीत हो चुका हो। सामने गुरुदेव मुस्कुराहट के साथ बैठे हुए थे, उनके पास चार-छः संन्यासी भी बैठे हुए दिखाई दे रहे थे, जो अत्यन्त वृद्ध थे और उनके सिर की सफ़ेद जटाएं नीचे की ओर झूल रही थीं।

मैंने जब आंखें बन्द की थीं तब तो गुरुदेव इस शिला पर अकेले ही थे, फिर ये संन्यासी यहां पर कहां से आ गए? मैंने अपने शरीर पर नज़र डाली, तो देखा कि मेरे सिर पर लम्बी-लम्बी जटाएं हैं और वे पीछे और आगे ज़मीन पर लटक रही हैं। मेरा सारा चेहरा दाढ़ी और मूंछ से भरा हुआ-सा है। नाखून अत्यधिक लम्बे हो गए थे, जिसे मैं बराबर देख रहा था।

यह सब क्या हो गया और कैसे हो गया? कुछ समझ नहीं पा रहा था। गुरुदेव ने कहा, "बताओ, तुमने कितनी देर तक समाधि लगाई थी?"

मैंने हाथ जोड़कर उत्तर दिया, "मुझे तो ऐसा लग रहा है जैसे दो-चार मिनट की समाधि लगी है, परन्तु मेरे सिर के सफ़ेद बाल, ये लम्बी-लम्बी जटाएं। चेहरे पर उगी हुई लम्बी दाढ़ी और बढ़े हुए नाखून तो कुछ और ही बात कह रहे हैं।"

गुरुदेव ने कहा, "तुम्हें समाधि लगाए हुए सत्तर वर्ष हो चुके हैं। यह समाधि तुम्हारी सत्तर वर्ष की थी। तभी तुम्हारे बाल इतने लम्बे हो गए हैं और नाखून बढ़ गए हैं। मैं तुम्हारे उसी प्रश्न का उत्तर दे रहा हूं यद्यपि सांसारिक दृष्टि से सत्तर वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, और उसका प्रभाव तुम्हारे शरीर पर भी पड़ा है, परन्तु तुम्हें यह दो-तीन मिनट से ज्यादा नहीं लगा होगा। या यों कहा जाए कि पूरे सत्तर वर्ष दो मिनट में ही सिमटकर रह गए हैं।"

मैं उनके चरणों में गिर पड़ा। उनका वरदहस्त मेरे सिर पर था और मेरे प्रश्न का उत्तर मुझे प्रमाण के साथ मिल गया था।

इसके बाद मैंने और उन उपस्थित संन्यासियों ने गुरुदेव के साथ पूरे कैलास पर्वत की परिक्रमा की और फिर मानसरोवर पुनः आकर कौसानी के रास्ते से हम लौटे थे।

गौरी दर्शन

उन दिनों हम पांच-छः शिष्य गुरुदेव के साथ यात्रा पर थे। मानसरोवर पर हमने निखिलेश्वरानन्द गुफा में तीन दिन व्यतीत किए थे। चौथे दिन गुरुदेव ने कहा, "आज दक्ष पर्वत की ओर हम जाएंगे।"

कैलाश पर्वत से दक्षिण की ओर अत्यन्त ही उच्च और भव्य दक्ष पर्वत है, जिसका पुराणों में वर्णन है। यह रास्ता अत्यधिक बीहड़ और कष्टप्रद है। बहुत ही कम संन्यासी इस ओर जा पाते हैं। एक तो इस तरफ़ बर्फ़-ही-बर्फ़ है दूसरी यह सारी बर्फ़ कच्ची और टूटने वाली है। कई बार तो चलते-चलते ही बर्फ़ टूटकर भयंकर दरार-सी बन जाती है और यदि चलने वाला असावधान हो तो उस दरार में गिरकर हमेशा-हमेशा के लिए समाप्त हो सकता है।

यह रास्ता बर्फ़ से आच्छादित और बीहड़ है। लगभग बारह किलोमीटर चलने के बाद सामने ही भव्य उत्तुंग दक्ष पर्वत दिखाई दिया। पुराणों में वर्णन है कि यहीं पर दक्ष की पुत्री गौरी उत्पन्न हुई थी और कैलास पर्वत पर रहने वाले भगवान शिव से उसका विवाह हुआ था।

जब दक्ष पर्वत नज़दीक आया, तो गुरुदेव ने हम शिष्यों को रुक जाने के लिए कहा। फिर बोले, "यह पर्वत अपने-आप में अत्यधिक महान है, क्योंकि इस पर्वत में कई स्थानों पर उच्च कोटि के योगी ध्यानस्थ दिखाई दे सकते हैं। इसके अतिरिक्त इस पर्वत में कई स्थानों पर पारस पत्थर की खानें हैं, जिसके एक टुकड़े से ही लोहे को स्पर्श कराने पर वह स्वर्ण में परिवर्तित हो जाता है।"

हम कुछ और आगे बढ़े, तो बाईं ओर एक विशाल और सुन्दर गुफा दिखाई दी, जिसके बाहर एक वृद्ध योगी साधनारत दिखाई दे रहा था। हम सभी उनके पास जाकर बैठ गए।

गुरुदेव गुफा के अन्दर चले गए। हम योगीराज के सामने बैठे रहे, उनके नेत्र बन्द थे। चेहरा कमल के समान सात्त्विक और तपस्यारत था। पूरा शरीर एक विशेष आभा से दीप्त था।

सारी रात इसी प्रकार बीत गई। उनकी आंखें ज्यों की त्यों बन्द थीं। शरीर निश्चल था और वे समाधि में पूर्णतः मग्न थे।

उधर सूर्योदय हुआ और इधर हमने देखा कि एक अत्यन्त सुन्दर

वर्ष की बालिका हाथ में जल-कलश लिये हुए आ रही है। इस घनघोर जंगल में उस बालिका को देखकर आश्चर्य हुआ। नज़दीक आने पर हमने देखा कि वह कोई देवकन्या ही होगी, क्योंकि उसके सिर के चारों ओर प्रभा-मंडल-सा दिखाई दे रहा था। लाल वस्त्र पहने हुए वह बालिका अत्यधिक सुन्दर प्रतीत हो रही थी। उसके बगल में एक शुभ्र कलश था और कलश के ऊपर पुष्पों की माला पड़ी हुई थी।

उसने नजदीक आकर हमें एक क्षण के लिए देखा और फिर उस कलश के जल से योगीराज को स्नान करा दिया। फिर उसके पास ही पड़े मृग-चर्म से शरीर पोंछा और गले में बाल-सुलभ चंचलता से पुष्पों की माला पहना दी और जिस प्रकार से आई थी, उसी प्रकार से बिना हमारी ओर ध्यान दिए चली गई।

हमारे लिए यह आश्चर्य ही था। इस बियाबान जंगल में यह बालिका कौन हो सकती है? वह जब योगीराज को स्नान करा रही थी, तो ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे छोटी-सी बालिका अपने पिता को स्नान करा रही हो, फिर उसने चंचलता के साथ उनके गले में माला भी पहना दी।

हमने उस बालिका से कुछ कहने की कोशिश की, पर मुंह से कुछ शब्द ही नहीं निकले। जब तक हम कुछ कहते, उससे पहले ही वह वहां से रवाना हो चुकी थी।

लगभग ग्यारह बजे योगीराज की समाधि टूटी और आंखें खुलीं। हमें देखकर बोले, "क्या बात है?"

हमने कहा, "हम आपकी समाधि खुलने की इन्तज़ार कर रहे हैं। आपसे कुछ विशेष सुनने की इच्छा रखते हैं। गुरुदेव ने जाते समय कहा था कि आपको कह दें कि वे जल्दी ही आएंगे।"

योगीराज ने पूछा, "कुछ विशेष सुनना चाहते हो, तो जाओ वह कंकड़ उठा लाओ।"

मैं उनके बताए हुए कंकड़ को लेने चट्टान से नीचे उतरा और दो मिनट बाद ही पुनः चट्टान पर चढ़ा। तब तक वे पुनः समाधि में लीन हो गए थे, मैं कंकड़ हाथ में लिये ही बैठा रहा।

काफ़ी समय बीत गया, उनकी समाधि खुली ही नहीं। वह दिन और रात

भी इसी प्रकार बीत गए। सुबह सूर्योदय के समय नित्य नियमानुसार वह बालिका पुनः आती हुई दिखाई दी और उसी प्रकार स्नान कराकर, माला पहनाकर जाने लगी, तो मैंने कुछ कहना चाहा। तब तक वह चट्टान से उतरकर काफ़ी दूर तक जा चुकी थी।

दोपहर के लगभग दो बजे उनकी समाधि टूटी। हमें सामने देखकर मुझसे पूछा, "कंकड़ उठा लाए क्या?"

मैंने कहा, "मैं तो तभी उठा लाया था।"

उन्होंने कुछ कहा नहीं। परन्तु मैं तभी समझ गया कि हमारे लिए जो चौबीस घंटे हैं, वह इनके लिए मात्र एक सेकंड है। इसीलिए जब ये पुनः समाधि खोलते हैं, तो अगला प्रश्न ही करते हैं।

योगीराज ने प्रारम्भ में भगवान शिव की साधना इसी स्थान पर बैठकर सम्पन्न की थी। यह स्थान दक्ष क्षेत्र कहलाता है, यहीं पर इन्हें भगवान शिव और गौरी के दर्शन हुए थे। इन्होंने गौरी को पुत्री कहते हुए आशीर्वाद-सा दे दिया था। तभी से गौरी इनकी पुत्री बनकर इनके बारे में चिन्ता करती रहती है।

हमें अत्यधिक प्रसन्नता थी कि इतने उच्च कोटि के तपस्वी के दर्शन हो सके, जिन्होंने विषम स्थान और विषम परिस्थितियों में भगवान शिव को प्रसन्न किया था और जिनकी सेवा स्वयं गौरी अपने हाथों से सम्पन करती है। उन्होंने कई वर्ष पूर्व पूज्य गुरुदेव से दीक्षा ली थी। यद्यपि ये बहुत अधिक आयु प्राप्त योगी हैं, परन्तु साधना क्षेत्रों में तो गुरुदेव से पीछे ही थे, अतः 'आयु वृद्धोऽपि न-वृद्ध ज्ञानवृद्धोऽपि वृद्ध' के अनुसार जो ज्ञान से वृद्ध है; वही सही अर्थों में वृद्ध है, वही गुरु बनने के योग्य है।

दीक्षा प्राप्त करने के बाद उन्होंने दक्ष क्षेत्र को साधना के लिए चुना। साधकों में प्रचलित है कि भगवान शिव और दक्ष के बीच वैमनस्य है और कई हज़ार वर्षों से भगवान शिव इस क्षेत्र में प्रकट ही नहीं हुए।

सिद्धि साध्य

कुछ दिन रांची में भी गुरुदेव के साथ हमें ठहरने का अवसर मिला था। यहीं पर गुरुदेव के एक शिष्य योगीराज सिद्ध बाबा मिले थे। ये टाट का ही वस्त्र पहनते थे, वह भी केवल नीचे के भाग में। ऊपर का भाग सर्वथा अनावृत रहता था। इन्होंने कई वर्षों तक हिमालय में साधना की थी और अब गुरुदेव की आज्ञा से ही ये कलकत्ता के निकट देवी शक्ति पीठ में विशिष्ट साधना सम्पन्न कर रहे थे।

एक बार बातचीत के प्रसंग में इन्होंने बताया कि किसी भी साधना में तभी सफलता मिल सकती है, जब हम पूर्ण रूप से जीवन मुक्त हों। यह जीवन मुक्ति अपने प्रयासों से सम्भव नहीं हो सकती। यह मुक्ति तो गुरुदेव के प्रयत्नों से ही हो सकती है। जिस प्रकार किसी कार को पीछे से बांध दिया जाए और यदि हम उसे चलाने का प्रयत्न करें, तो वह चल ही नहीं सकती, ठीक उसी प्रकार इस जीव की अवस्था है। यह बन्धन मुक्त होता है और बन्धन मुक्ति गुरुदेव की कृपा से ही सम्भव है।

यह जीवन बन्धन मुक्त होने पर ही साधना में प्रविष्ट हो सकता है और उसमें सफलता पा सकता है, इसके लिए कोई भी उपाय, पूजा, उपवास, नियम साधना आदि सब-कुछ व्यर्थ है।

ये जब तक हमारे साथ रहते, तब तक बराबर गुरुदेव की चर्चा ही करते रहते। गुरुदेव के सैकड़ों अनुभव इन्हें स्मरण थे। उनके स्मरण, उनकी चर्चा, उनकी पूजा और उनके चिन्तन के अलावा ये अन्य कुछ भी नहीं करते थे।

एक बार उन्होंने बताया कि विशिष्ट साधना के लिए व्यक्ति का द्वन्द्व,

भ्रम या सन्देह मिटना आवश्यक है। मनुष्य स्वभावतः सन्देहयुक्त होता है। किसी-न-किसी कार्य में उसका सन्देह बना रहता है। ईश्वर के बारे में, जीव के बारे में, संसार या मोक्ष के बारे में साधना अथवा सिद्धियों के बारे में, सन्देह रहता ही है। यह सन्देह जब मिट जाता है तभी व्यक्ति पूर्णतः शुद्ध और निर्मल हो सकता है।

पर यह सन्देह मिटे कैसे? यह सन्देह गुरु-कृपा से ही मिट सकता है। सही अर्थों में तो केवल गुरु ही सन्देहभंजक हैं। वे शिष्य के सन्देह को दूर करके उसे सही पथ पर अग्रसर कर सकते हैं, इसलिए किसी भी उच्च कोटि की साधना सिद्धि के लिए गुरुदेव की साधना अनिवार्य है।

उन्होंने अपना उदाहरण बताते हुए कहा, "मैंने आज तक कोई साधना तो क्या गायत्री मन्त्र का जप भी नहीं किया। जब हमारे पास गुरु मन्त्र जैसा शक्तिशाली मन्त्र है, तो फिर अन्य देवी-देवताओं की साधना या मन्त्र जप करने से क्या होगा? रही बात सिद्धियों और चमत्कारों की, तो मैं घमंड तो नहीं करता, पर तुम लोगों से पीछे नहीं हूं।"

वस्तुतः सिद्ध बाबा अत्यन्त ही भले और सरल स्वभाव के थे। यद्यपि कभी-कभी उन्हें क्रोध अवश्य आ जाता था, परन्तु फिर भी उन्होंने अपने-आप को बहुत अधिक संयत कर लिया था। केवल गुरु मन्त्र के सहारे ही उन्होंने जो सिद्धि प्राप्त की थी। वह अपने-आप में हम लोगों के लिए लज्जित करने को पर्याप्त है। हम जब विविध साधनाओं के लिए प्रयत्नशील रहते, तब उन्होंने बिना किसी अन्य साधनाओं के भी इतनी उच्च कोटि की सिद्धियां प्राप्त कर ली थीं। हम तो केवल गुरु-भक्ति और गुरु-सेवा का दम्भ करते थे, वे सही अर्थों में गुरु सेवा करते थे। उनका प्रत्येक श्वास गुरुमय था। प्रत्येक काम करते समय ऐसा ही कहते कि यह गुरुदेव की आज्ञा है और मैं कर रहा हूं।

सर्वार्पण भाव

उन दिनों गुरुदेव हैदराबाद में ठहरे हुए थे। वहीं पर दक्षिण से एक साधु उन्हें मिलने के लिए आए थे। उनका-मेरा परिचय पहली बार ही हुआ था। गुरुदेव के वे शिष्य थे और कुछ वर्षों तक केदार खण्ड के पास उन्होंने गुरुदेव के सान्निध्य में साधनाएं सम्पन्न की थीं। बाद में गुरुदेव की आज्ञा से वे रामेश्वरम चले गए

थे और वहीं उन्होंने अपना छोटा-सा आश्रम बना लिया था।

उन्होंने एक दिन गुरुदेव से निवेदन किया। आपके सान्निध्य में मैंने कुछ साधनाएं सम्पन्न की हैं और अपने इष्टदेव के दर्शन भी मुझे हुए हैं। जब भी मैं आंखें बन्द कर ध्यान करता हूं, तो भगवान शिव मेरे सामने दृष्टिगोचर हो जाते हैं, परन्तु फिर भी मेरे मन में उद्विग्नता है, और यह उद्विग्नता किस युक्ति से समाप्त होगी इसका भी मुझे कोई ज्ञान नहीं है।

गुरुदेव ने कहा, "अपने इष्ट के दर्शन कर लेना अपने-आप में अन्तिम लक्ष्य नहीं है। देवी-देवताओं के दर्शन तो कुछ विशिष्ट सिद्धियां प्राप्त करने पर हो सकते हैं। यह चाहे तो उनके साथ विहार भी कर सकता है, परन्तु यह चित्त की सर्वोच्चता प्राप्त नहीं होती, तब तक मन की अधीरता न तो दूर होती है और न अखंडानन्द प्राप्त हो सकता है।"

शास्त्रों में ब्रह्म से साक्षात्कार तथा अखंडानन्द की जो बात बताई है, वह सर्वात्म भाव के द्वारा ही सम्भव है। गीता में भी भगवान श्रीकृष्ण ने इस सर्वात्म भाव का प्रतिपादन किया है। सर्वात्म भाव प्राप्त होने पर ही तुम्हारे चित्त की चंचलता और उद्विग्नता समाप्त हो सकती है तथा अखंड आनन्द प्राप्त हो सकता है।

फिर उन्होंने उसे एक विशिष्ट मन्त्र पांच दिन तक जपने के लिए कहा और कहा कि इन पांच दिनों में तुम्हें सर्वथा एकान्त स्थान में अहर्निश इस मन्त्र का जप करते रहना है। छठे दिन मेरे पास आ जाना, जिससे कि तुम्हें मनोवांछित सफलता प्राप्त हो सके।

आगन्तुक स्वामी जी ने गुरु-आज्ञा पालन करते हुए शहर के मध्य में स्थित पहाड़ी पर एकान्त स्थान पर बैठकर पांच दिनों तक रात-दिन उस मन्त्र का जप किया और छठे दिन जब वे गुरुदेव के सामने आए, तो अपेक्षाकृत शान्त दिखाई दिए।

गुरुदेव ने छठे दिन स्नान कर अपने सामने उसे बिठा दिया और भृकुटी के मध्य में ध्यान स्थिर करने के लिए कहा। उन्होंने कुछ दिनों तक गुरुदेव के पास योग साधना सीखी थी। अतः कुछ ही क्षणों के बाद वे अपने ध्यान को भृकुटी के मध्य में स्थिर करने में सफल हो गए।

तत्पश्चात गुरुदेव ने उनकी दोनों आंखों पर अपने दाहिने हाथ की तर्जनी

और अनामिका उंगलियां रख दीं और दो सेकंड बाद ही उन्हें हटा दी।

बाद में अपना अनुभव बताते हुए स्वामी जी ने कहा कि ज्यों ही गुरुदेव ने मेरे नेत्रों को छुआ, त्यों ही मेरा सारा शरीर झनझना उठा और ऐसा लगा जैसे मेरी आंखों के सामने से पूरा संसार तेज़ी के साथ दौड़ रहा है। मुझे वृक्ष, पेड़-पौधे, पहाड़, नदियां, पृथ्वी, आकाश सब-कुछ घूमते हुए-से दिखाई दे रहे थे। अकस्मात मैंने अपना स्वयं का प्रतिबिम्ब अपने सामने देखा। ऐसा लग रहा था कि मैं अपने शरीर से निकलकर सामने खड़ा हूं। थोड़ी देर बाद मुझे अपना प्रतिबिम्ब पेड़ में भी, पत्थर, पहाड़ और नदी में भी दिखाई देने लगा। ज्यों ही मेरे सामने पहाड़ आता, वह लोप हो जाता और उस जगह मैं अपने प्रतिबिम्ब को ही देखता। इसके बाद मैंने अपना प्रतिबिम्ब हाथी में, घोड़े में, पशु-पक्षियों में, कीट-पतंगों में भी देखा और ऐसा लगा कि यह सब-कुछ नहीं है केवल इस पूरे विश्व में मैं ही हूं और थोड़ी ही देर बाद मेरी आंखें खुल गईं।

गुरुदेव ने कहा, "तुमने जो कुछ देखा है वह सत्य है और यही सर्वात्म भाव है।"

इसके बाद से तो उनका जीवन-क्रम ही बदल गया। इसके बाद ही वे लगभग एक महीने तक हमारे साथ रहे थे, पर जिस रूप में ये आए थे उस रूप में और इस घटना के बाद वाले रूप में ज़मीन-आसमान का अन्तर हो गया।

वाक् सिद्धि

एक दिन चर्चा चलने पर मैंने गुरुदेव से पूछा कि किस साधना के माध्यम से व्यक्ति को वाक् सिद्धि प्राप्त होती है? पुराणों में कई स्थानों पर महर्षियों के बारे में चिन्तन है कि वे जो कुछ भी श्राप या आशीर्वाद दे देते थे, वह निश्चित रूप से सफल होता था। उनके पास वह कौन-सी साधना होती थी, जिसके माध्यम से उन्हें वाक् सिद्धि प्राप्त होती है।

गुरुदेव ने कहा, "यह कोई विशेष सिद्धि नहीं, अपितु योग की ही एक विशिष्ट अवस्था है। जब साधक कुंडलिनी जागरण कर षट्चक्र में उतरता है, तब उसे अन्तर योग से सम्बन्ध स्थापित करना होता है। अन्तर योग में विशिष्ट देवता विशिष्ट चक्रों पर स्थिर है। जब उस चक्र का भेदन करते हैं, तो वे देवता स्वतः कंठ में स्थापित हो जाते हैं —

क्षितौ षट्पंचाशद्द्विसमधिकपंचाशदुदके।
हुताशे द्वाषष्ठिश्चतुरधिकपंचाशदनले।
दिवि द्विःषट्त्रिंशन्मनसि च चतुःषष्ठिरिति यें।
मयूखास्तेषामप्युपरि तव पादाम्बुजयुगम्॥

अर्थात मूलाधार चक्र में छप्पन, मणि पुर चक्र में बावन, हुताश अग्नि स्वादिष्टान्न चक्र में बासठ, अनिल वायु चक्र में चौवन, आकाश चक्र मे बहत्तर तथा भ्रूमध्य में चौंसठ देवता होते हैं। जिन्हें मिलाकर तीन सौ साठ देवता योगियों के वशवर्ती हो जाते हैं।

जब षट्चक्र भेदन के साथ साधक दिव्य तत्त्व तक पहुंचता है, तो एक विचित्र प्रकार की स्थिति उसके शरीर में हो जाती है। क्योंकि उसके कंठ से जिह्वा बाहर निकलकर कपाल को छूने लगती है। जब जिह्वा से योगी कपाल चुम्बन कर लेता है और उसे मोड़कर तालू में स्थिर कर लेता है, तब दिव्य तत्त्व प्राप्ति है, परन्तु यह दिव्य तत्त्व प्राप्ति भी अन्तिम स्थिति नहीं है।

इसके बाद सहस्रार से जो अमृत क्षरण होता है, उसे एक विशिष्ट प्रवाह दिया जाता है और वह प्रवाह आज्ञा-चक्र पर आकर रुकता है। यह योग की विलोम गति है। स्वाभाविक गति जो सुषुम्ना के माध्यम से आज्ञा-चक्र से होते हुए सहस्रार तक पहुंचना है, पर इस मार्ग में सहस्रार पुनः अमृत क्षरण करता हुआ सुषुम्ना के साथ आज्ञा-चक्र पर आकर रुक जाता है और इस प्रकार आज्ञा-चक्र का सहस्रार से लोम-विलोम सम्बन्ध साहचर्य स्थापित हो जाता है।

इस स्थिति को योग में विशुद्ध तत्त्व कहते हैं। यह दिव्य तत्त्व के बाद ही सम्भव है। ऐसा होने पर योगी आगे बढ़कर अपनी जिह्वा से कपाल-भेदी स्थिति को प्राप्त कर वह सहस्र मुख से झरते हुए अमृत का जो कुंड आज्ञा-चक्र में बनता है, कपाल भेदी जिह्वा से रसास्वादन कर उसे कंठ में स्थापित किया जाता है और इस प्रकार वह कंठ अमृतमय बनकर दिव्य एवं विशुद्ध तत्त्व से आप्लावित हो जाता है।

इसी स्थिति को वाक् सिद्धि कहा जाता है। जब आज्ञा-चक्र में अमृत-कुंड स्थापित होता है, तो वहां दाहिने नेत्र सूर्य और वाम नेत्र चन्द्र का सीधा सम्बन्ध उस अमृत-कुंड से सहस्रार दिव्य और विशुद्ध तत्त्व से बन जाता है, और इसे काल सिद्धि कहते हैं। काल सिद्धि के माध्यम से योगी पीछे की घटना और आने

वाली घटनाओं को सुविधापूर्वक देख सकता है। वह पीछे हज़ार वर्षों तक जा सकता है और आगे भी हज़ार वर्षों में होने वाली घटनाओं को देख सकता है।

जब यह अमृत सत्त्व कपाल-भेदी जिह्वा के द्वारा कंठ में जाता है, तो उसमें स्थित वे सभी 360 देवता योगी को वाक्सिद्ध बना देते हैं। इनमें 180 वामवाक् सिद्ध होते हैं और 180 दक्षिण वाक्सिद्ध। वाम वाक्सिद्धि से जब योगी क्रोधित होकर श्राप देता है, तो तुरन्त ही उसका प्रभाव होता है और जो कुछ उसके मुंह से निकलता है, वह सम्पन्न होता है। दक्षिण वाक्सिद्धि से योगी जो कुछ भी आशीर्वाद देता है, वह भी फलप्रद होता है और तुरन्त ही कार्य सिद्ध हो जाता है।

इसके बाद हममें से पांच शिष्यों को उन्होंने इस योग साधना की विशेष दीक्षा भी दी। यद्यपि यह सिद्धि सुनने और पढ़ने में अत्यन्त ही आसान प्रतीत होती है, परन्तु व्यवहार क्षेत्र में अत्यधिक दुष्कर और कठिन है। हमने जब उस क्षेत्र में गुरुदेव की कृपा से प्रविष्ट किया, तो नित्य विविध और विचित्र अनुभव होने लगे।

धीरे-धीरे मुझे अपने पिछले कई जीवन देखने को मिले और मैंने यह देखकर आश्चर्य व्यक्त किया कि वर्तमान मे जो गुरु हैं, वे ही कई-कई जन्मों से गुरु है। यही नहीं, अपितु इसके साथ-साथ मुझे आगे के भी कई जीवन स्वतः देखने को मिल गए।

कपाल भेदी क्रिया काफ़ी कठिन और दुष्कर है। इसमें जिह्वा का दोहन कर उसे आज्ञा-चक्र में प्रवेश कराया जाता है और पुनः मोड़कर ताल में स्थापित कर दी जाती है। दोहन करते समय जिह्वा लगभग नौ इंच मुंह से बाहर निकल जाती है।

वस्तुतः यह साधना योग की एक श्रेष्ठ अवस्था है, जिसके माध्यम से योगी वाक्सिद्ध होकर प्रकृति में मन चाहे हस्तक्षेप कर, उसे अपने वशवर्ती बना लेता है।

पारदेश्वर

गुरुदेव के साथ एक बार मुझे नागपुर जाने का भी अवसर मिला। यहां पर उनके गृहस्थ शिष्य कैलाशनाथ उपाध्याय रहते थे। पति-पत्नी दोनों ही अत्यन्त धार्मिक और सरल प्रकृति के थे। उनके कोई पुत्र नहीं था। उनकी अत्यधिक इच्छा थी कि कोई एक पुत्र उनके हो जाए, तो जीवन में पूर्णता प्राप्त हो।

उन दिनों पूज्य गुरुदेव कुछ दिनों के लिए नागपुर आए थे और उनके यहीं पर रुके। उन्होंने प्रार्थना की, तो गुरुदेव ने पारे की श्वास पर श्वास से ठोस बनाकर तथा एक छोटा-सा पारदेश्वर बनाकर उनको दे दिया और कहा, "निम्न स्तोत्र का नित्य 108 बार पाठ करना है। पाठ करते समय जल में निरन्तर पारदेश्वर शिवलिंग पर अपने हाथों से जलधार चढ़ाते रहना है। इस प्रकार तुम्हें साठ दिन करना है, और यदि ऐसा करोगे, तो निश्चय ही तुम्हारे घर शिव-भक्त बालक पैदा हो जाएगा।"

उपाध्याय जी उस पारदेश्वर को पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। ऐसा लगा जैसे उन्हें मनोवांछित वरदान मिल गया हो। अपने घर में अगले सोमवार को ही उसे स्थापित कर निम्न स्तोत्र का पाठ प्रारम्भ कर दिया —

ओऽम् ऐं श्रीं हसौ देवः ओऽम् हीं हुँ भैरवोत्तमः।
ओऽम् हीं नमः शिवायेति मन्त्रो वटुवरायुधः॥
ओऽम् हीं सदाशिवः ओऽम् हीं आपदुद्धारणो मतः।
ओऽम् हीं महाकरालास्य ओऽम् हीं वटुकभैरवः॥
भर्गस्त्र्यम्बक ओऽम् हीं ओऽम् हीं चन्द्रार्धशेखरः
ओऽम् हीं सं जटिलो धूम्र ओऽम् ऐं त्रिपुरघातकः।

ह्रां हीं हं हरिवामांग ओऽम् हीं हं हीं त्रिलोचनः।
ओऽम् वेदरूपो वेदज्ञ ऋग्यजुः सामरूपवान्॥

रुद्रो घोररवो घोर ओऽम् क्षं हं हीं अघोरकः।
ओऽम् जूं सः पीयूषसक्तो मृताध्यक्षे मृतालसः॥
ओऽम् त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धि पुष्टिवर्धनम्।
उर्ध्वारुकमिव बन्ध्नान् मृत्योमुक्षीय मा मृतात्॥

ओऽम् हौं जूं सः ओऽम् भूर्भुवः स्वः जूंसः मृत्युंजयः।
पातु तां सर्वदेवेशो मृत्युजन्य सदाशिव॥

दो महीने के भीतर-भीतर उनकी पत्नी के गर्भ धारण हुआ और केवल इसी प्रयोग से उनके घर पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम उन्होंने शिवशंकर उपाध्याय रखा। मुझे उनके यहां लगभग पांच वर्ष बाद जाने का अवसर मिला, तब वह शिवशंकर भी चार वर्ष के लगभग हो गया था।

मैंने देखा कि बालक में अभी से शिव के प्रति अनन्य आस्था है और घर में स्थापित शिव मन्दिर में वह घंटों बैठा रहता। आगे चलकर इस बालक ने चारों वेदों का पूर्ण अध्ययन कर अद्वितीय विद्वान की उपाधि प्राप्त की थी। पूरा यजुर्वेद इस बालक को कंठस्थ था।

मणिपुर भेदन

एक बार गुरुदेव ने बताया कि योग में मणिपुर चक्र का विशेष महत्त्व है, क्योंकि इसके भेदन से अमृत तत्त्व की प्राप्ति होती है और पूर्णतः निरोग एवं स्वस्थ बना रहता है।

योग के माध्यम से जहां मणिपुर चक्र भेदन किया जा सकता है, वहीं रुद्रयामल तन्त्र में एक विशेष स्तोत्र के माध्यम से भी मणिपुर चक्र भेदन का स्पष्टीकरण किया है। यदि नित्य इस स्तोत्र का 108 बार पाठ किया जाए और मात्र 21 दिन ऐसा किया जाए, तो सीधे ही मणिपुर चक्र में साधक की स्थिति बन जाती है।

यह सब ध्वनि का महत्त्व है और इस स्तोत्र में शब्दों का सगुम्फन भी इस प्रकार से है कि उससे शरीर के अन्दर एक विशिष्ट आवर्तन होता है और

उसके माध्यम से मणिपुर चक्र भेदन हो जाता है। यह अमृत तत्त्व कहलाता है, और ऐसी स्थिति में पूरे शरीर में स्वतः अमृत निर्माण होता रहता है, फलस्वरूप योगी पर रोग एवं वृद्धावस्था का कोई प्रभाव व्याप्त नहीं होता।

गुरुदेव ने कृपा कर यह मणिपुर भेदन स्तोत्र बताया –

ओऽम् नमः परमकल्याण नमस्ते विश्वभावन।
नमस्ते पार्वतीनाथ उमाकान्त नमोस्तुते॥

विश्वात्मने विचिन्त्याय गुणाय निर्गुणाय च।
धर्माय ज्ञानमक्षाय नमस्ते सर्वयोगिने॥

नमस्ते कालरूपाय त्रैलोक्यरक्षणाय च।
गोलोक्यातकायैव चंडेशाय नमोस्तुते॥

सद्योजाताय देवाय नमस्ते शूलधारिणे।
कालान्ताय च कान्ताय चैतन्याय नमो नमः॥

कुलात्मकाय कौलाय चन्द्रशेखर ते नमः।
उमानाथ नमस्तुभ्यं योगीन्द्राय नमो नमः॥

सर्वाय सर्वपूज्याय ध्यानस्थाय गुणात्मने।
पार्वती-प्राणनाथाय नमस्ते परमात्मने॥

मैंने अपने जीवन में इस प्रयोग को सम्पन्न किया और अनुभव किया कि इसे सिद्ध करने के बाद जीवन-भर किसी प्रकार का कोई रोग और बुढ़ापा व्याप्त नहीं होता। प्रत्येक गृहस्थ के लिए यह गोपनीय और महत्त्वपूर्ण प्रयोग है।

चक्षु गणपति

मुझे गुरुदेव के साथ कन्याकुमारी जाने का कई बार अवसर मिला था। यह तीन समुद्रों से घिरा हुआ अत्यन्त ही रमणीय एवं आनन्दप्रद स्थान है। समुद्र के बीचोबीच एक चट्टान उस समय थी, आजकल उस पर विवेकानन्द स्मारक बना दिया गया है।

बात मैं उन दिनों की कर रहा था। उससे परे हटकर एक और पहाड़ी चट्टान समुद्र में से उभरी हुई है, जिसे सिद्धपर्वत कहते हैं। यह काफ़ी ऊंची

और महत्त्वपूर्ण चट्टान है। कहते हैं कि लक्ष्मी ने सबसे पहले समुद्र मन्थन के बाद बाहर निकलकर इसी चट्टान पर अपने पैर रखे थे और भगवान विष्णु से विवाह किया था।

इसी चट्टान पर एक संन्यासी बैठे हुए थे, जिनका नाम सोऽहं बाबा है। मैंने इन्हें पहले भी गंगोत्री पर तीन-चार बार देखा है और पूज्य गुरुदेव के साहचर्य सम्पर्क में कई वर्षों पूर्व रहे हैं। इन्होंने गुरुदेव से ही साम्भवी दीक्षा प्राप्त की थी, पर बाद में चमत्कारों के चक्कर में पड़ जाने की वजह से गुरुदेव के कोपभाजन होकर इस तरफ़ आ गए थे। यहां पर भी शाम को इनसे मिलने के लिए काफ़ी लोग समुद्र के किनारे खड़े होते और जब ये चट्टान से उतरकर किनारे पर आते, तो कई लोग अपनी समस्याएं इनके सामने रखते।

यद्यपि इनका मार्ग बदल गया था और आत्मोन्नति की अपेक्षा आत्म-प्रचार की ओर बढ़ गए थे, फिर भी इनके पास कुछ सिद्धियां अवश्य थीं और इतना होने के बावजूद पूज्य गुरुदेव के प्रति इनके मन में अत्यधिक आस्था थी। जब इन्होंने गुरुदेव के बारे में सुना कि वे कन्याकुमारी आ रहे हैं, तो वह उस पहाड़ी को छोड़कर दो दिन और दो रात तक उस मार्ग पर खड़े रहे, जिस रास्ते से गुरुदेव आ रहे थे। और जब इन्होंने उनको आते हुए देखा, तो उनके पैरों से इस प्रकार लिपट गए जिस प्रकार बेल पेड़ों से लिपटती है।

एक दिन हम सब गुरु भाई गुरुदेव की आज्ञा लेकर उस पहाड़ी पर गए, जिसे सिद्ध पहाड़ी कहा जाता है। शाम का समय था और वह पहाड़ी पर अकेले ही बैठे हुए थे। हमें देखकर वह अत्यन्त प्रसन्न हुए। बोले, "वास्तव में ही तुम लोग सौभाग्यशाली हो कि गुरुदेव का नित्य साहचर्य, सत्संग पा रहे हो। मैं अभागा हूं, इसलिए उनसे इतनी दूर यहां पड़ा हूं। यह आशा मुझे अवश्य है कि एक-न-एक दिन तो गुरुदेव की कृपा मुझ पर होगी ही और वे मुझे पुनः अपनी शरण में ले लेंगे।"

इन्हें गणपति सिद्ध थे और उस दिन हमने यह देखा भी। पारस पत्थर का एक अत्यन्त ही छोटा गणपति का विग्रह, जो कि तिल के आकार का था, हर समय अपनी दाहिनी आंख में रखते। हम लोगों के आग्रह पर इन्होंने अपनी दाहिनी आंख से वह छोटा-सा चक्षु गणपति विग्रह बाहर निकाला और अपनी दाहिनी हथेली पर ले लिया फिर हमारे सामने ही एक अंगोछा पत्थर की शिला

पर बिछा दिया और कुछ विशेष जप उन चक्षु गणपति के सामने करने लगे।

कुछ ही मिनटों बाद जब इन्होंने अंगोछा हटाया, तो उसके नीचे विविध तरह के पेय और खाद्य पदार्थ रखे हुए थे, जो कि ताजे और स्वादिष्ट थे। उस दिन हम सबने वहीं पर उन पदार्थों का सेवन किया।

बाद में उन्होंने पुनः वही क्रिया दोहराई और चक्षु गणपति के सामने विशेष क्रियाएं और मन्त्र उच्चारण किया, तो इनके बाएं हाथ में कुछ पारद शिवलिंग स्वतः आ गए। यह सब क्रिया हम अपनी आंखों से देख रहे थे। उन्होंने अपनी याद को सुरक्षित रखने के लिए हम सबको एक-एक पारद शिवलिंग भेंटस्वरूप दिया, जो आज भी मेरे पास सुरक्षित है।

ये स्वभाव से बहुत अधिक दयालु थे और मन में किसी प्रकार की दुर्भावना नहीं रहती थी। हम जब तक कन्याकुमारी रहे, तब तक बराबर इनसे सम्बन्ध सम्पर्क बना रहा। बाद में मेरे अनुरोध पर इन्होंने मुझे चक्षु गणपति का ध्यान, पूजा और गोपनीय मन्त्र भी बताया जो कि सिद्ध हो सका।

चक्षु गणपति साधना इन्हें गुरुदेव से ही प्राप्त हुई थी, पर जब साधना सिद्ध होने पर चमत्कार प्रदर्शन में ये लग गए, तो गुरुदेव ने अपने पास से इन्हें हटा दिया था। फिर बाद में हम लोगों के अत्यधिक आग्रह और प्रार्थना पर कन्याकुमारी में ही इन्हें पुनः अपनी सेवा में ले लिया और कई वर्षों तक ये पूज्य गुरुदेव की सेवा में रहे।

अन्नपूर्णा साधना

कन्याकुमारी से जब हम महाबलिपुरम आए, तो समुद्र के किनारे बसा यह स्थान हमें अत्यन्त ही रमणीय और आनन्दप्रद लगा। गुरुदेव ने यहां की पौराणिक स्थिति के बारे में काफ़ी कुछ बताया। उन्होंने कहा कि भगवान शिव ने कुछ समय तक यहां तपस्या सम्पन्न की थी और अन्नपूर्णा को अपने शरीर में समाहित किया था।

अन्नपूर्णा साधना के लिए यह स्थान उपयुक्त है। परन्तु मैं उन दिनों की एक घटना बता रहा हूं, जो कि मेरी डायरी में अंकित है।

यहां पर हरिओम बाबा लगभग आठ-दस वर्षों से थे। गुरुदेव के शिष्य रहे हैं और उनकी आज्ञा से ही उन्होंने इस स्थान को अपना निवास बनाया था। उन्होंने यहां काफ़ी प्रयत्न किया और अपना आश्रम तो बनाया ही, एक वैदिक स्कूल की भी स्थापना की, जिसका ख़र्चा आश्रम से ही होता था। इसके अतिरिक्त उन्होंने गोशाला, अन्धविद्यालय तथा स्त्री-शिक्षा के लिए स्कूल भी खोला। जब हम गए तो इनके कार्य को देखकर गुरुदेव अत्यन्त प्रसन्न हुए। समाज की उन्नति के लिए उन्होंने जो कुछ किया वह वास्तव में ही सराहनीय था।

हम लोग दो या तीन दिन वहा रहे, पर इस अवधि में मैंने अनुभव किया कि स्वामी जी को विशिष्ट अन्नपूर्णा साधना सिद्ध है। ये मात्र लंगोटी लगाए रहते थे और लोगों से मिलते-जुलते वक़्त कमर पर एक अंगोछा लपेट लेते थे। इनके बगल में आठ इंच लम्बी और आठ इंच चौड़ी एक लाल रंग की झोली लटकी रहती थी। यहां पर नित्य भंडारा होता था और शाम के समय जो भी अतिथि आता उनको अत्यन्त प्रेम से भोजन आदि कराते। लगभग नित्य सौ-डेढ़ सौ साधु-संन्यासी अतिथि आ जाते थे और किसी को भी मना नहीं करते थे।

एक दिन दोपहर को हम सब गुरु भाई और हरिओम बाबा समुंद्र के किनारे बैठे हुए वार्तालाप में मग्न थे। थोड़ी देर में गुरुदेव भी आ गए और बातचीत हरिओम बाबा के कार्यों पर चल पड़ी। बाबा ने कहा, "गुरुदेव, मैं कुछ समय आपके साथ रहना चाहता हूं। यहां पर तो अब कोई भी गुरु भाई इसे संभाल लेगा।"

गुरुदेव ने कहा, "साधना का एक उद्देश्य समाज-सेवा भी है। और जब तक साधना समाज से जुड़ेगी नहीं, तब तक उस साधना का कोई मूल्य ही नहीं है। तूने यहां रहकर इन अशिक्षित लोगों के बीच जो कार्य किया है, वह वास्तव में ही सराहनीय है। तुम्हें अभी कुछ समय और यहां रहना है। मैं देख रहा हूं कि इस तरफ़ अन्धता का प्रकोप ज़्यादा है, इस तरफ़ पाई जाने वाली जड़ी-बूटी का परिचय मैं तुम्हें बता देता हूं। इसका प्रयोग करने से आंखों से सम्बन्धित बीमारी — फूला, झाला, रतौंधी आदि रोग समाप्त हो जाते हैं। और फिर उन्होंने समुद्र के किनारे ही एक तरफ़ उगी हुई झाड़ी के कुछ पत्ते मंगवाए, जिसे वहां अफनूरा कहते हैं। इनके पत्तों का रस निकालकर दिन में दो बार आंखों में टपकाने से सभी प्रकार के आंखों के रोग समाप्त हो जाते हैं।

हरिओम बाबा अन्नपूर्णा साधना में सिद्ध थे। जब गुरुदेव ने पूछा कि तुम्हारी अन्नपूर्णा क्या कर रही है, तो हरिओम बाबा ने उत्तर दिया, "आपकी ही कृपा है।"

"तो हमें भी उनके दर्शन करवा दो न।" गुरुदेव ने सहास्य कहा।

हरिओम बाबा ने पास खड़े हुए एरबंग पौधे के बड़े-बड़े पत्ते लाकर हम सब लोगों के सामने बिछा दिए। यह पौधा आठ-दस फुट ऊपर जाता है। इसके पत्ते केले की तरह चौड़े और लम्बे होते हैं। यहां के लोग इन पत्तों पर भोजन करते हैं।

हरिओम बाबा ने भी हमारे सामने पत्ते बिछा दिए। लगभग पांच बजे का समय हो गया था। फिर उन्होंने अपनी बगल में लटकी हुई लाल झोली में से निकालकर विविध तरह के खाद्य पदार्थ हमें परोसे। वह झोली मात्र आठ इंच लम्बी और आठ इंच चौड़ी थी, पर उसमें से उन्होंने लड्डू, पेड़े, बर्फ़ी, हलवा और भी कई तरह के खाद्य पदार्थ निकालते रहे। वे अपना हाथ उसमें डालते और निकालकर परोसते जाते। यही नहीं, अपितु विविध तरह की सब्जियां भी

उसी झोली में से निकालकर हमारे सामने बिछे पत्तों पर परोसते रहे। भोजन के अनन्तर उसी झोली में गिलास भी निकाले और ठंडा शीतल जल उसी में से निकाल-निकालकर हमें पिलाते रहे। हम सब आश्चर्य से उस झोली की ओर देख रहे थे और वे अपने में ही मग्न उसमें से मनोवांछित सामग्री निकाल-निकालकर रुचि के साथ हमें खिलाते रहे। उस दिन गुरुदेव ने भी थोड़ा-सा आतिथ्य स्वीकार किया।

उस दिन हमने जो कुछ देखा वह आश्चर्यजनक था। दूसरे दिन एकान्त में मैंने हरिओम बाबा से इस साधना-रहस्य के बारे में जानकारी चाही, तो उन्होंने बताया कि बिना गुरुदेव की आज्ञा के मैं कुछ भी बताने में असमर्थ हूं।

तीसरे दिन अवसर देखकर हमने गुरुदेव से इस अन्नपूर्णा साधना के बारे में जानना चाहा, तो उन्होंने हंसकर टाल दिया। उस समय तो बात आई-गई हो गई, पर इसके दो वर्ष बाद मुझे पूज्य गुरुदेव से ही इस साधना को सीखने का अवसर मिला और मैंने अनुभव किया कि वास्तव में ही साधना अपने-आप में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

रावणेश्वर

गुरुदेव के साथ मुझे वैद्यनाथ धाम जाने का भी अवसर मिला। यह स्थान भी ज्योतिर्लिंग के रूप में विख्यात है। यहां पर भगवान वैद्यनाथ का शिवलिंग अत्यन्त प्रसिद्ध है। यहां दूर-दूर से कांवर पर गंगाजल लाकर भगवान शिव को चढ़ाया जाता है।

यह बहुत कम लोगों को ज्ञात है कि इस मन्दिर के पीछे ही एक झील के अन्दर एक छोटा-सा मन्दिर है, जो यद्यपि कम प्रचलित है, परन्तु उसमें जो शिवलिंग स्थापित है, वह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। रावण ने स्वयं इसे अपने हाथों से स्थापित किया था, और तभी से इसका नाम रावणेश्वर पड़ा। स्फटिक के समान पत्थर का बना हुआ यह शिवलिंग अत्यन्त ही भव्य एवं अद्वितीय है।

गुरुदेव ने कहा, "इस शिवलिंग की कई विशेषताएं हैं। श्रावण के महीने में नीचे से गंगा स्वतः प्रवाहित होती रहती है। सौभाग्य से उन दिनों श्रावण का ही महीना था। हमने देखा कि बाण में उफन-उफनकर जल बाहर निकल रहा है और बराबर प्रवाहित होता जा रहा है।"

कई-कई रातें तो ऐसा भी होता था कि उस जल से पूरा शिव मन्दिर भर जाता था और पानी का प्रवाह बाहर तक दिखाई देता था। इसका रहस्य बताते हुए गुरुदेव ने कहा, "जब रावण ने इस शिवलिंग को अपने हाथों से स्थापित किया, तो इसकी पूजा के लिए जल की आवश्यकता हुई। आसपास जल न देखकर उसने तन्त्र बल से गंगा को खींच लिया, जिससे कि वह शिवलिंग पर प्रवाहित होने लगी। तब से अब तक श्रावण महीने में यह जल बराबर प्रवाहित होता है।"

इसके बाद भी मुझे दो-तीन बार अकेले भी वैद्यनाथ धाम जाने का अवसर मिला। मैंने देखा कि श्रावण के अलावा वह शिवलिंग बिल्कुल सूखा रहता है और नीचे पानी की बूंद तक नहीं मिलती। पर श्रावण महीने में यह बराबर निकलता रहता है।

इस शिवलिंग में रोग-मुक्ति की विशेष क्षमता है। यह प्रयोग गुरुदेव ने हमारे सामने भी करके दिखाया। जब कोई पुष्प गंगाजल के साथ शिवलिंग पर चढ़ाया जाता है और वह कुछ क्षणों के लिए तो विलीन हो जाता है, पर कुछ ही समय बाद पुनः शिवलिंग पर दिखाई देता है।

यदि वह पुष्प रोगी को दे दिया जाए और वह उसे घोटकर पी ले, तो उसका रोग निश्चय ही समाप्त हो जाता है। यह चमत्कारिक शिवलिंग है और इसके बारे में बहुत ही कम लोगों को ज्ञात है। यहां रात्रि में उच्च कोटि के तान्त्रिक आते हैं और साधना सम्पन्न कर प्रातः पुनः अपने स्थान पर लौट जाते हैं।

चित्त का अध्ययन

एक बार हम सब लोग गुरुदेव के साथ रामेश्वर यात्रा पर थे। हमने विधिवत भगवान रामेश्वर की पूजा-अर्चना की और इससे तीन मील के अनन्तर एक महत्त्वपूर्ण आश्रम है, जिसे गुरुदेव के ही शिष्य देला बाबा चलाते थे। वहीं जाकर रुक गए। दूसरे-तीसरे दिन हम धनुष कोटि जाकर आए। यह स्थान प्राकृतिक दृष्टि से अत्यधिक रमणीय और सुन्दर है।

वहीं हम समुद्र के किनारे बैठे हुए थे और चर्चा विचार संक्रमण या 'थॉट रीडिंग' के बारे में चल पड़ी। गुरुदेव ने कहा, "दूसरे के चित्त की बात जानना और उसका उत्तर प्रकृति में स्वयं निहित रहता है, क्योंकि प्रत्येक विचार और उस विचार के साथ घटित घटना भी काल के गर्भ में स्पष्ट है।"

हमारे साथ रामेश्वर के ही एक गृहस्थ माधवप्रसाद जी थे। उन्हें गुरुदेव की बात में कुछ संशय लगा। उन्होंने कहा, "किसी के मन की बात जान लेना तो शायद सम्भव है, पर उस घटना का उत्तर भी प्रकृति में सुनिश्चित है, यह बात दिमाग़ में जमती नहीं।"

गुरुदेव ने कहा, "इस समय तुम्हारे मन में एक विशेष प्रश्न घुमड़ रहा है क्यों, यह बात सही है न।"

उन्होंने उत्तर दिया, "यह सही है। मेरे मन में इस समय एक प्रश्न है।"

गुरुदेव ने शून्य में से एक काग़ज़ का टुकड़ा पकड़कर माधवप्रसाद के हाथों में देते हुए कहा, "पढ़ लो। यही तुम्हारा प्रश्न है न?"

स्वामी जी ने फिर कहा, "तुम्हारे मानस में जो प्रश्न उभरा वह प्रकृति में स्वतः फैल गया। मगर यह प्रश्न ही नहीं फैला, अपितु भावी कालखंड ने उस प्रश्न का उत्तर भी स्पष्ट कर दिया। ऐसा कहकर उन्होंने दूसरी बार पुनः शून्य में से दूसरा क़ागज़ का टुकड़ा निकालकर माधवप्रसाद जी के हाथ में दे दिया और कहा, "यह तुम्हारे प्रश्न का उत्तर है।"

वास्तव में ही उनके प्रश्न का समाधान मिल गया था। गुरुदेव ने इसकी व्याख्या करते हुए बताया, "हमारा मन दूसरे शब्दों में ब्रह्मांड है। मन में और ब्रह्मांड में किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं है। इसलिए जो बात मन में होती है, वही बाह्य रूप में ब्रह्मांड में उठ जाती है। मैंने ब्रह्मांड के उस बिन्दु को पकड़ा है और वही काग़ज़ पर उतरा है, जो कि तुम्हारे सामने है। पर दूसरी बात, उस प्रश्न का समाधान या उत्तर तुम्हारे मन में नहीं था। वह हो भी नहीं सकता, क्योंकि वह तो भावी काल के गर्भ में निहित है। आख़िर एक-न-एक दिन तो उस प्रश्न का अनुकूल या प्रतिकूल उत्तर या प्रतिक्रिया होनी ही है। मैंने किसी कालखंड को पहचान कर पकड़ने की कोशिश की, जहां इसके प्रश्न का उत्तर निहित था। दूसरी बार कालखंड से उस प्रश्न का समाधान आप लोगों के सामने था।"

अपनी बात को और ज़्यादा स्पष्ट करते हुए गुरुदेव ने कहा, "इस साधना को परिचित ज्ञान-साधना कहते हैं। यहां पर से तात्पर्य व्यक्ति और प्रकृति दोनों होते हैं। इसके लिए कुछ विशेष योग की क्रियाओं के साथ-साथ मन्त्र जप सम्पन्न

होता है और उसी के माध्यम से यह सब-कुछ सम्भव हो सकता है।"

गुरुदेव ने बाद में मुझे परिचित ज्ञान साधना की सूक्ष्मता समझाई। इसमें अपने स्व को परत्व में विलीन करना होता है और परत्व का सम्बन्ध स्व से जोड़ना होता है। फलस्वरूप अन्तरमन ब्रह्मांड से और ब्रह्मांड अन्तरमन से जुड़ जाता है। ऐसी स्थिति में दोनों का परस्पर सम्बन्ध बनने से मन में जो विचार उठता है, वह प्रकृति के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। इसके पश्चात उस प्रश्न का अन्तिम छोर काल के उस खंड से होता है, जहां प्रश्न का समाधान होगा। वह समाधान अनुकूल या प्रतिकूल कुछ भी हो सकता है, पर यह निश्चित है कि काल के एक विशेष खंड में ही वह समाधान होगा।

उदाहरण के लिए यदि किसी ने हत्या की है, तो आगे के समय में किसी एक क्षण विशेष में ही उसको फांसी होगी। जब प्रकृति में हत्या के क्षण के दूसरे छोर को पकड़ते हैं, तो काल का वह खंड स्पष्ट हो जाता है, जब उस घटना का समाधान होगा। वह समाधान निर्दोष होकर बरी होना भी है और फांसी की सज़ा पाना है। दोनों में से कुछ भी घटना घटित हो सकती है।

बाद में गुरुदेव ने इस साधना को हम कई शिष्यों से सम्पन्न करवाए। लगभग इस पूरी साधना में छः-सात महीने लग गए। परन्तु हमने देखा कि इससे व्यापक दृष्टि बन जाती है और जीवन में पूर्णत्व प्राप्त हो जाता है। काल के दोनों छोर जब हमारे सामने स्पष्ट होते हैं, तो सारी स्थिति भी हमारे सामने स्पष्ट होती है।

सिद्धि-देह

एक बार हम सब शिष्य और गुरुदेव यमुनोत्री के पास बैठे हुए थे। शिष्यों को वहीं छोड़कर गुरुदेव मुझे लेकर यमुनोत्री के पीछे पहाड़ के एक तरफ़ ले गए और कहा, "तुम्हारी मां बीमार है और तुम्हें बराबर स्मरण कर रही है। तुम्हें वहां जाना चाहिए।"

मैंने हाथ जोड़कर उत्तर दिया, "सांसारिक सम्बन्धों से मेरा कोई लगाव नहीं रहा है। मैं आपके चरण छोड़कर जाना भी नहीं चाहता। कृपया ऐसी कठोर आज्ञा न दें, जिससे कि मुझे चरणों से अलग होना पड़े।"

गुरुदेव ने एकाध क्षण सोचा फिर कहा, "अच्छा, तुम इस प्रस्तर शिला पर बैठ जाओ।" और मेरी मुट्ठी में कुछ सामग्री देते हुए कहा, "मुट्ठी बन्द कर लो।" मैं उनकी आज्ञा का पालन कर एक शिला पर बैठ गया। उन्होंने मेरी मुट्ठी में क्या रखा था, इसका कोई भान मुझे नहीं था। मैं आंखें बन्द शान्त चित्त से वहीं बैठ गया।

पूज्य गुरुदेव ने मेरे सिर पर जहां चोटी होती है, उस भाग को मध्यमा अंगुली से छुआ। ऐसा लगा कि मुझे ज़ोर से झटका लगा हो। इस झटके से मेरी आंख खुल गई, तो मैंने देखा कि अपने घर के बाहर दरवाज़े के पास ही बैठा हुआ हूं, जब कि यमुनोत्री के उस स्थान से मेरा यह घर लगभग ढाई हज़ार किलोमीटर दूर था। इस सारे कार्य में मुश्किल से एक या दो मिनट लगे होंगे।

मैंने मुट्ठी खोलकर देखा तो उसमें कुछ गोलियां थीं और एक पर्ची पर गोलियां देने की विधि लिखी हुई थी। साथ ही निर्देश था कि "तुम्हें तीन दिन अपनी माता के पास रहना है, चौथे दिन प्रातःकाल सूर्योदय के समय उसी स्थान

पर पालथी मारकर बैठ जाना, जहां तुम अभी बैठे हो।"

मैं सीढ़ियां चढ़कर अपने घर में घुसा, तो देखा कि मेरी मां बीमार है, और कराह रही है। मुझे आया देखकर उसके चेहरे पर प्रसन्नता की लहर दौड़ पड़ी। बोली, "मैं आज सुबह से ही तुझे याद कर रही हूं। दोपहर को तो ऐसा लगा कि तेरे बिना अगर मर भी गई तो सद्‌गति नहीं होगी।"

मैंने अपनी मुट्ठी में रखी गोलियों में से परची में बताई हुई विधि से मां को गोलियां दे दी और कहा, "जब गुरुदेव की मुझ पर इतनी कृपा है, तो फिर मुझे चिन्ता करने की क्या ज़रूरत है?"

मां ने कहा, "मैं दिन के बारह बजे तुम्हारे गुरु जी से ही कह रही थी कि हर हालत में मेरे बेटे को एकाध दिन के लिए तो भेज ही दो। आज दोपहर को तो तेरी याद बहुत ज्यादा तीव्र हो गई थी।"

चौथे दिन मैं मां से आज्ञा लेकर उसी स्थान पर बैठ गया, जहां तीन दिन पहले पहुंचा था। वह स्थान मेरे घर के दरवाज़े के बाहर ही था। इन तीन दिनों में मां पूर्णतः स्वस्थ हो गई थी। मैंने उस स्थान पर बैठकर ज्यों ही नेत्र बन्द किए कि मुझे ज़ोर से झटका लगा जैसे कि मुझे किसी ने उठाकर फेंक दिया हो। मेरी बाईं कलाई पर घड़ी बंधी हुई थी। जब मेरी आंखें खुलीं, तो मैं गौरी कुंड के पास था। मैंने देखा कि बाईं तरफ़ गौरी कुंड है और सामने ही वृक्ष के नीचे गुरुदेव शिष्यों के पास बैठे हुए हैं।

मैं जब गया था, तो यमुनोत्री से गया था और लौटा तो गौरी कुंड के पास अपने-आप को पाया, जब कि यमुनोत्री से गौरी कुंड के बीच काफ़ी मीलों का अन्तर है। वास्तव में यह एक अद्‌भुत घटना थी।

गुरुदेव ने इसका मर्म समझाते हुए कहा कि सिद्ध देह के माध्यम से यह सब-कुछ सम्भव है। मैंने तुम्हें सिद्ध देह से सम्बन्धित साधना सम्पन्न करवा दी थी। इस बात का ज्ञान अभी तक तुम्हें नहीं दिया गया है कि किस प्रकार से इस देह को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते हैं। मनोवांछित स्थान पर ले जाकर फिर चाहें तो किसी अन्य स्थान पर भी इस देह को भेजा जा सकता है। तुम्हारी देह सिद्धि होने की वजह से ही ऐसा हो सका। आगे की साधनां सम्पन्न करने पर तुम स्वयं को किसी भी स्थान पर ले जा सकते हो, दूसरों को भी एक स्थान

से दूसरे स्थान पर भेज सकते हो और बुला सकते हो। सिद्ध देह होने की वजह से शरीर में किसी प्रकार का कोई व्याघात या कष्ट व्याप्त नहीं होता।

गंग—कलश

एक बार मैं उनके साथ गोमुख पर बैठा हुआ था। गुरुदेव का तीन महीनों का निवास गोमुख था। उनका विचार गोमुख के उन गुप्त रहस्यों का पता लगाना था, जो उसके नीचे भूगर्भ में है। उन्होंने एक दिन चर्चा के दौरान बताया कि गोमुख धीरे-धीरे पीछे की ओर सरकता जा रहा है और आज से बीस-तीस वर्ष बाद लगभग पांच-सात मील पीछे सरक जाएगा। उस समय इस गोमुख की इतनी अधिक शोभा नहीं रहेगी जितनी कि इस समय है।

वास्तव में जब हम गंगा के उद्‌गम स्थल गोमुख को देखते हैं, तो भाव-विभोर हो जाते हैं। गोमुख ऐसा प्रतीत होता मानो सामने बर्फ़ के असंख्य शिवलिंग बने हुए हों। उस समय के कुछ चित्र भी मेरे पास हैं। पिछले कुछ समय से मैं अपने पास कैमरा रखने लगा था और प्रकृति के कुछ विशिष्ट चित्र खींच लेता था।

जब मैंने गोमुख के कुछ चित्र खींचे और बाद में उनको धुलवाया, तो वे सारे चित्र अद्वितीय प्रतीत हुए। वे चित्र ऐसे थे जैसे कि भगवान शिव स्वयं जटा फैलाए बैठे हों, उनकी जटाओं से गंगा नीचे चू रही हो और एक-एक बूंद टपकती हुई गंगा का रूप धारण कर रही हो। वास्तव में ही यह चित्र अद्वितीय है। मैं जब भी गोमुख को देखता, तो मुझे भगवान शंकर का ऐसा ही स्वरूप दृष्टिगोचर होता।

निखिलेश्वरानन्द जी ने अपने कथन की व्याख्या करते हुए बताया कि गोमुख के नीचे सिद्धस्थल है, जो कि मीलों लम्बा-चौड़ा है, इस सिद्धस्थल का मार्ग तपोवन के पास स्थित कालिन्दी गुफा है। शुद्ध बर्फ़ में यह अकेली ऐसी गुफा है, जो बाहर से पूर्णतः श्याम रंग की दिखाई देती है, इसीलिए इसका नाम कालिन्दी गुफा रखा गया है।

इस गुफ़ा के माध्यम से अन्दर जाने पर सिद्ध क्षेत्र में पहुंचा जा सकता है, यहां पर अत्यन्त उच्चकोटि के संन्यासी और तिब्बती लामा साधना करते हुए दिखाई देते हैं। इन लामाओं के पास कुछ साधनाएं अत्यन्त उच्चकोटि की हैं। ये लामा जब किसी को दीक्षा देते हैं, तो उनके सिर के मध्य भाग में लोहे की

कील ठोककर उसका सीधा सहस्रार खोल देते हैं और फिर आगे साधना पथ पर अग्रसर करते हैं।

उन्हीं दिनों हम लोगों के पास पांच-छः ताम्र कलश समान आकार-प्रकार के थे। उनमें से एक कलश में गंगाजल भरकर मुझे रामेश्वरम जाने के लिए कहा गया। वह जल भगवान रामेश्वरम पर चढ़ाना था और वहां से समुद्र जल लाकर गोमुख पर प्रवाहित करना था।

मैं कलश लेकर उत्तरकाशी आया और आगे चलकर रेलगाड़ी में बैठ गया। मुझे जल्दी-से-जल्दी रामेश्वरम जाकर वापस आना था। पर वहां जाने पर पता चला कि जो गंगाजल का कलश मुझे साथ लाना था, वह तो हड़बड़ी में उत्तरकाशी में ही भूल गया था।

अब क्या हो? दूसरा कोई चारा ही नहीं था। मंडपम स्टेशन से बिलखता-सा मैं रामेश्वरम मन्दिर तक पहुंचा। मैं किस मुंह से गुरुदेव के पास जाऊंगा और उन्हें क्या कहूंगा? अवश्य ही साधना की कोई विशिष्ट स्थिति होगी, तभी उन्होंने मुझे रामेश्वरम पर जल चढ़ाने के लिए भेजा होगा। उनका कोई विशेष प्रयोजन अवश्य होगा, परन्तु अब क्या हो सकता है और मैं क्या कर सकता हूं?

दुःख-भरे मन से मैं मन्दिर के बाहर खड़ा था, फिर धीरे-धीरे अन्दर जाने लगा। लगभग आठ-दस क़दम ही गया होऊंगा कि पीछे से आवाज़ आई। किसी ने मेरा नाम लेकर मुझे पुकारा था।

मैंने चौंककर पीछे की ओर देखा, तो एक अत्यन्त वृद्ध-संन्यासी वहां था, जिसके हाथ में ठीक वैसा ही कलश था जैसा कि मैं गुरुदेव के पास से लेकर रवाना हुआ था। उनके पास जाने पर उन्होंने कहा, "यह कलश ले और भगवान शिव पर चढ़ा। तेरी वजह से कितना अधिक पैदल चलकर आना पड़ा है।"

मैंने कलश उठाने के बाद ऊपर की ओर देखा, तो वहां कोई संन्यासी या साधु नहीं था। मैंने इधर-उधर देखा, तब भी उनका कुछ पता नहीं चला। आश्चर्य, अभी तो वे यहां खड़े थे फिर एक क्षण में ही कहां लुप्त हो गए। प्रमाणस्वरूप गंग-कलश मेरे हाथों में था।

मैंने कलश अन्दर ले जाकर पूरा जल भगवान शिव के ऊपर चढ़ाया और स्वस्थ चित्त से 'रुद्राष्टाध्यायी' का पाठ किया, पर रह-रहकर मेरे मानस में वह

संन्यासी और जल-कलश आ जाता था।

तत्पश्चात समुद्र जल से वह गंग-कलश पुनः भरा और ट्रेन से उत्तरकाशी होता हुआ गुरुदेव के पास पहुंच गया। मैं शर्म से आंखें नीचे किए हुए खड़ा था।

गुरुदेव ने गंग-कलश के बारे में कुछ भी चर्चा नहीं की और मेरी भी हिम्मत नहीं हुई कि मैं कुछ बात कहूं।

पर बाद में गुरु भाइयों से इस रहस्य का स्पष्टीकरण हो गया। मेरे गुरु भाई सान्याल ने कहा, "तेरे जाने से कुछ दिनों बाद, सुबह साढ़े छः बजे का समय होगा, गुरुदेव ने हम लोगों के सामने कहा, "वह रामेश्वरम तो पहुंच गया है, पर अब मन्दिर के पास खड़ा-खड़ा रो रहा है। कलश तो उत्तरकाशी में ही भूल गया है।"

फिर मुझसे दूसरा गंग-कलश गोमुख से भरकर लाने को कहा और जब मैंने लाकर गुरुदेव को दिया, तो वे उसको लेकर थोड़ी दूर तक तो तेज़ी से चले और ज्यों ही झाड़ी के पीछे पहुंचे, अदृश्य हो गए। दिखाई नहीं दिए। लगभग आधे घंटे बाद गुरुदेव पुनः उस झाड़ी के पीछे से ही खाली हाथ आते हुए दिखाई दिए।

मैं सब रहस्य जान गया। उस दिन जो रामेश्वरम मन्दिर के पास वृद्ध संन्यासी मिले थे, वे स्वयं गुरुदेव ही थे। उन्हें मेरी वजह से कितना अधिक कष्ट उठाना पड़ा था। मैं इसको जब-जब भी स्मरण करता, ग्लानि से भर जाता। पर गुरुदेव ने कभी भी इस घटना की चर्चा मुझसे नहीं की।

बाद में जब गुरुदेव प्रसन्नचित थे, तो मैंने अपना अपराध स्वीकार करते हुए गंग-कलश वाली घटना उन्हें सुनाई। उन्होंने कहा, "शिष्यों की ग़लतियों का ख़ामियाज़ा तो गुरुदेव को भुगतना ही पड़ेगा।" और वे मुस्कुराकर रह गए।

प्रत्यक्ष दर्शन

उन दिनों कुछ विशेष कारणों से मुझे गुरुदेव से अलग अपने घर जाना पड़ा था। मेरी माता जी का देहान्त हो गया था और पिता जी पहले से ही नहीं थे, इसलिए सारा भार मुझ पर था।

यद्यपि घर में काम-काज तो करता था, परन्तु एक क्षण के लिए भी गुरुदेव

को भूल नहीं पाता था। सोचता रहता कि मैंने ऐसे कौन-से पाप किए, जिसकी वजह से गुरुदेव से अलग होना पड़ा है।

एक दिन अपने गांव से बाहर तालाब के किनारे बैठकर फूट-फूटकर रोया। मुझे उस समय गुरुदेव की बहुत अधिक याद आ रही थी और इच्छा हो रही थी कि चाहे मुझे आज्ञा का उल्लंघन ही करना पड़े, मैं घर से निकल जाऊं और जहां भी गुरुदेव हों, उनके पास पहुंच जाऊं।

तभी मैंने देखा कि तालाब के किनारे पर मुझसे पांच-सात फुट की दूरी पर गुरुदेव खड़े मुस्कुरा रहे हैं। बोले, "क्या बात है? क्यों रो रहा है?"

लगभग आधा घंटा तक मेरे पास बैठे रहे और साधना विषयक मार्गदर्शन देते रहे। मुझसे कहा, "तुझे कुछ समय अपने घर पर ही रहना है, जब घर का वातावरण मैं अनुकूल अनुभव करूंगा, तब तुझे वापस बुला लूंगा।" और कहते-कहते ही वे अन्तर्धान हो गए।

वस्तुतः गुरुदेव इसी प्रकार अपने शिष्यों को यदा-कदा प्रत्यक्ष दर्शन देते रहते थे। यह घटना मेरे साथ ही नहीं, अपितु कई शिष्यों को अनुभव हुई है। जब वे अत्यधिक भाव-विह्वल हो गए हैं या जब उन्हें गुरुदेव से मिलने की तीव्र इच्छा हुई है, तो गुरुदेव अक्सर स्वतः उपस्थित हो जाते थे और शिष्यों को मार्गदर्शन देकर पुनः अन्तर्धान हो जाते थे।

रसायन सिद्धि

उन दिनों हम चार-पांच शिष्य गुरुदेव के साथ श्री शैल पर्वत पर थे। यह द्वादश ज्योतिर्लिंगों में से एक माना जाता है और हैदराबाद से लगभग 160 किलोमीटर दूर है। यह स्थान इतना अधिक रमणीक है कि एक बार इस स्थान पर जाने के बाद वापस लौटने की इच्छा नहीं होती।

उन दिनों स्वामी जी हमें रसायनशास्त्र का ज्ञान करा रहे थे। उन्होंने कहा, "पारद सर्वाधिक दुष्कर एवं कठिन सिद्धि है। जो पारद सिद्धि कर लेता है, वह रसायन सिद्ध हो जाता है।"

स्वामी जी ने बताया कि पारद प्रकृति-पुरुष का जीवन सत्त्व है। इसके माध्यम से विश्व परिवर्तन लाया जा सकता है। एक बार उन्होंने पारद से स्वयंभू

क्रिया सम्पन्न करवाई और उसके माध्यम से उन पदार्थों का भी निर्माण किया जा सका, जो कि सामान्यतः इस दृष्टि से देखना सम्भव नहीं होता।

पारद के कुल 106 संस्कार होते हैं। इनमें भी पहले आठ संस्कार सामान्य हैं और अगले आठ संस्कार महत्त्वपूर्ण हैं। सोलह संस्कारों के बाद पारद विपरीत रतिक्रिया करने लग जाता है। अतः आगे की सारी क्रियाएं अत्यधिक जटिल, कठिन और पेचीदा होती हैं। उच्च स्तर का योगी ही इस प्रकार का पारद संस्कारित कर सकता है।

उन्होंने पारद के संस्कार करके हमें समझाए। पारद के प्रथम अठारह संस्कार इस प्रकार हैं — (1) स्वेदन, (2) मर्दन, (3) मूर्च्छन, (4) उत्थापन, (5) विविध पातन, (6) रोधन, (7) नियमन, (8) सन्दीपन, (9) गगनभक्षण, (10) संचारण, (11) गर्भद्रुति, (12) बाह्य द्रुति, (13) जारण, (14) ग्रास, (15) सारणकर्म, (16) संक्रामण, (17) बेधन और (18) शरीर योग।

इन अठारह संस्कारों को सम्पन्न करने पर पारद सही अर्थों में बुभुक्षित पारद बन जाता है।

जब हमने पहले-पहले बुभुक्षित पारद बनाया, तो वह अत्यधिक शुभ्र, स्वच्छ और पारदर्शी-सा बन गया था। गुरुदेव ने बताया कि यह स्वर्ण-भक्षी पारद है। इस पर यदि स्वर्ण रखा जाए, तो यह पारा स्वर्ण खा जाता। परन्तु इसके अनुपात में और वज़न में किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं आता।

हमने दस तोले का बुभुक्षित पारद बनाया था और उसे नीबू के रस में रखकर शिवलिंग का आकार दे दिया था। इस पर मधुसूदन जी ने अपने हाथ की अंगुली में से सोने की अंगूठी निकालकर उस पर रखी, तो पारे ने कुछ ही मिनटों में वह स्वर्ण-अंगूठी निगल ली। उस पर जो माणिक्य जड़ा हुआ था वह रह गया।

इसके बाद तो यह बुभुक्षित पारद शिवलिंग मेरे पास काफ़ी समय तक रहा और मैं अपने परिचितों को कह-कहकर उस पर थोड़ा-थोड़ा सोना रखवाता जाता था। परन्तु मैंने देखा कि लगभग बीस तोला सोना खाने के बावजूद उस पारद शिवलिंग का वज़न दस तोला ही रहा, जो कि प्रारम्भ में था। साथ-ही-साथ उसके अनुपात या लम्बाई-चौड़ाई में भी कोई अन्तर नहीं आया।

एक दिन गुरुदेव को जब इस बारे में पता चला, तो उन्होंने कहा, "इस पारद पर जितना भी सोना रखा जाता है, यह अपने-आप में निगल लेता है। पर एक स्थिति ऐसी भी आती है, जब यह बुभुक्षित पारद सोना निगलना बन्द कर देता है, तब उसे पारस पारद कहा जाता है। यह एक प्रकार से पारस की तरह बन जाता है और फिर बाद में यदि इस शिवलिंग पर कोई लोहे का टुकड़ा रखा जाए, तो उसे वह स्वर्ण में परिवर्तित कर देता है।"

पर इस पारद के बारे में कोई निश्चित नियम नहीं बनाया जा सकता कि बुभुक्षित पारद कितना स्वर्ण निगलने के बाद पारस पारद बनता है। कभी-कभी तो यह चार-पांच किलो स्वर्ण निगलने के बाद ही पारस पारद बन जाता है और बाद में मनों लोहे को स्वर्ण में परिवर्तित करता रहता है। पर कई बार ऐसा बुभुक्षित पारद पचास किलो स्वर्ण निगलने के बाद भी पारस पारद नहीं बन पाता।

मैंने मन में निश्चय कर लिया था कि धीरे-धीरे इस बुभुक्षित पारद को स्वर्ण ग्रास देता रहूंगा और मुझे अवश्य ही सफलता मिलेगी।

इसके कई वर्षों बाद तक मैं उस बुभुक्षित पारद शिवलिंग को अपने पूजा-स्थल में रखता या जहां भी जाता अपने पास रखता। जब किसी का कार्य पूरा हो जाता और वह कुछ दक्षिणा या भेंट आदि देना चाहता, तो मैं उससे भेंट आदि स्वीकार न कर इतना ही कहता, "इस पारद शिवलिंग पर आप जो भी और जितना भी चाहें, स्वर्ण चढ़ा दें।"

वे प्रसन्नतापूर्वक कान की बाली, अंगूठी या कोई छोटा-सा सोने का टुकड़ा उस पारद शिवलिंग पर चढ़ा देते और उनके देखते-देखते पारद शिवलिंग उस स्वर्ण को अपने में जज़्ब कर लेता। आश्चर्य की बात तो यह कि यदि किसी भी अंगूठी में स्वर्ण के अलावा अन्य वस्तु का मेल होता, तो यह बुभुक्षित पारद केवल स्वर्ण को ही जज़्ब करता, अन्य धातु को ठीक उसी प्रकार बाहर छोड़ देता, जिस प्रकार से स्वर्णकार पिघलाकर स्वर्ण के अलावा अन्य धातु अलग कर देता है।

कई वर्षों बाद अचानक एक दिन मैंने देखा कि उस पर श्रद्धालु ने अपने हाथ की मुद्रिका रखी, तो वह ज्यों की त्यों पड़ी रही, किसी प्रकार का कोई रासायनिक परिवर्तन या रासायनिक प्रतिक्रिया नहीं हुई। मैं आश्चर्यचकित हो गया। मेरे जनेऊ से लोहे की एक चाबी लटकी हुई थी। उसे खोलकर अलग

किया और रेत से मांजकर उसको ज्यों ही बुभुक्षित पारद शिवलिंग पर रखा, त्यों ही वह चाबी तुरन्त स्वर्ण में परिवर्तित हो गई।

मुझे गुरुदेव का कथन स्मरण हो आया कि एक सीमा तक ही यह बुभुक्षित पारद स्वर्ण को निगलेगा और बाद में यह शिवलिंग जिस दिन स्वर्ण को निगलना बन्द करेगा, उसी दिन यह पारस पारद बन जाएगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यह शिवलिंग पारस पारद बन गया है।

मुझको अपने जीवन में कभी लालच नहीं रहा, परन्तु मुझे स्मरण है कि मैंने सैकड़ों बार उस पर जब भी लोहे का टुकड़ा रखा, वह तुरन्त स्वर्ण में परिवर्तित हो गया। मैंने उस स्वर्ण को परिचित स्वर्णकार को भी दिखाया। उसने कहा, "यह सौ टंच स्वर्ण है।" आज भी यह अद्भुत शिवलिंग मेरे पास सुरक्षित है।

सिद्ध सूत

जिन दिनों गुरुदेव हमें पारद के रासायनिक प्रक्रियाओं और परिणामों को समझा रहे थे, उस समय उन्होंने बताया कि यदि पारस के बाईस संस्कार कर दिए जाएं, तो वह ठोस रूप में नहीं, अपितु एक सफ़ेद भस्म के रूप में बन जाता है, जिसे 'सिद्ध सूत' कहा जाता है।

मैंने योगियों के मुंह से और स्थानों पर सिद्ध सूत के बारे में सुना अवश्य था, परन्तु उसके बारे में देखने या जानने का अवसर नहीं मिला था। यह घटना श्रीशैल पर्वत की ही है, यहां पर गुरुदेव लगभग दो महीने रहे थे और मल्लिकार्जुन साधना सम्पन्न की थी। वे नित्य हम कुछ शिष्यों को पारद संस्कार का ज्ञान देते थे। उनका अधिकांश समय इसी कार्य में व्यतीत हो रहा था।

एक दिन चर्चा चलने पर उन्होंने कहा कि सिद्ध सूत पारद का सर्वश्रेष्ठ रासायनिक परिवर्तन है। बाईस संस्कार करने पर पारा खंड-खंड बिखर जाता है और वह श्वेत भस्म के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

गुरुदेव ने अठारह संस्कार तो समझा ही दिए थे। इसके बाद अगला अरण संस्कार, तरंगिनी संस्कार, अलका संस्कार और सिद्ध सूत संस्कार सम्पन्न करवाया था। ये चारों ही संस्कार अत्यधिक कठिन और पेचीदा हैं। यदि इसमें ध्यान नहीं रखा जाए, तो काफी परेशानी आ सकती है।

इन्हीं संस्कारों के समय मेरे गुरु भाई नागेन्द्र स्वामी ने थोड़ी-सी असावधानी बरती थी और बीसवें संस्कार के समय अचानक पारे में से एक नीली लपट-सी निकली और उस धूममिश्रित लपट से नागेन्द्र तत्क्षण अन्धा हो गया। उसके सिर के बाल सफ़ेद हो गए। सिर के बाल ही नहीं, अपितु भौंहें भी सफ़ेद हो गईं।

गुरुदेव ने उस दिन उसे बहुत डांटा कि थोड़ी-सी असावधानी से कितनी अधिक हानि हो सकती है। पर उन्होंने वहीं पहाड़ पर प्राप्त होने वाली एक जड़ी रसेन्द्र को निकाला, और उसे खरल में घोटकर, छानकर, उसकी कुछ बूंदें नगेन्द्र की आंखों में टपकाई, तो वे पुनः स्वस्थ हो सकीं। यही नहीं, अपितु इस पौधे की पत्तियों को पानी में मिलाकर नगेन्द्र को स्नान कराया गया, जिससे उसके सिर के सफ़ेद बाल पुनः काले हो गए और भौंहें भी अपनी वास्तविक स्थिति और रंग में आ गईं।

बाद में चर्चा के दौरान यह पता चला कि पारे से जो विसंगतियां आ जाती हैं या उसका जो विपरीत प्रभाव आंखों पर या शरीर पर होता है, उसे दूर करने की जड़ी-बूटी पूरे भारतवर्ष में केवल श्रीशैल पर्वत पर ही है। इसीलिए गुरुदेव हम अनाड़ी शिष्यों को पारद रासायनिक प्रक्रिया का ज्ञान श्री शैल पर्वत पर दे रहे थे।

इक्कीसवें संस्कार तक तो पारद गोली के रूप में ही रहा। परन्तु ज्यों ही बहेड़ा, कच अमरीन्द्र और तलार वनस्पतियों के साथ पारद का मर्दन किया, त्यों ही वह श्वेत भस्म के रूप में परिवर्तित हो गया। गुरुदेव ने कहा, "यही सिद्ध सूत है, जो कि संसार का सर्वाधिक दुर्लभ पदार्थ है। पारद संसार से सम्बन्धित लोगों को सिद्ध सूत प्रक्रिया ज्ञात होने पर वे रसायन सिद्ध योगी कहे जाते हैं।"

नागार्जुन ने पारद संस्कार और सिद्ध सूत्र बनाने की कई प्रक्रियाएं स्पष्ट की हैं। बारह प्रक्रियाएं ऐसी हैं, जिनके माध्यम से सिद्ध सूत बनाया जा सकता है, परन्तु यह बात निश्चित है कि बिना बाईस संस्कार के सिद्ध सूत बनना सम्भव नहीं है।

जब हमारे द्वारा सिद्ध सूत किया गया, तो गुरुदेव ने उसे एक शीशी में भरकर रख देने के लिए कहा। उसी दिन सायंकाल जंगल से सूखी लकड़ियां और कंडे एकत्र कर उसका ढेर लगा दिया और आग लगा दी। जब वे जलने लगीं, तो एक लोहे का टुकड़ा, जो लगभग सौ ग्राम था, आग पर रख दिया

गया। जब वह लाल सुर्ख हो गया, तो उसे बाहर निकालकर एक पत्थर पर रखा और एक तिनके पर सिद्ध सूत लेकर ज्यों ही उस तप्त लोहे के टुकड़े पर डाला, त्यों ही रासायनिक प्रक्रिया हुई और वह लोहे का टुकड़ा तुरन्त शुद्ध स्वर्ण में परिवर्तित हो गया। परीक्षण करने पर वह सौ टंच स्वर्ण निकला।

पारद शिवलिंग

भारत में ही नहीं, अपितु पूरे विश्व में पारद शिवलिंग का सर्वाधिक महत्त्व है। इसे पारदेश्वर कहा जाता है। शास्त्रों में मृत्तिकेश्वर, स्वर्णेश्वर, रजतेश्वर से भी ज़्यादा मूल्यवान और महत्त्वपूर्ण पारदेश्वर की महिमा बताई गई है। इसमें पारे को ठोस बनाकर उसे लिंग का आकार देकर शिवलिंग निर्माण किया जाता है।

पारद शिवलिंग को बनाने की दो विधियां मुख्यतः प्रचलित हैं — एक तो नीला थोथा, कुंकुम, नमक और बहेड़ा में घोटकर भी पारा ठोस और शिवलिंग के आकार का बन जाता है। दूसरी विधि नीला थोथा, बच्च, कुटुक आदि को पारे के साथ उबालकर, पारा निकालकर उसे नीबू के रस में भिगोने से शिवलिंग का आकार प्राप्त हो जाता है।

पर ये दोनों ही विधियां पारदेश्वर शिवलिंग निर्माण में दूषित हैं, क्योंकि नीले थोथे की वजह से उसमें लौह तत्त्व आ जाता है, जो कि अशुद्ध है। बिना लौह तत्त्व के शुद्ध पारे में निर्मित शिवलिंग ही अपने-आप में अद्भुत प्राण शक्तिदायक होता है।

पूज्य गुरुदेव ने इसे समझाते हुए कहा कि इस प्रकार का पारद शिवलिंग बनाने के लिए न तो अग्नि में संस्कारित किया जाता है और न अन्य नमक या नीले थोथे में घोंटा जाता है। उसे प्राणवायु के माध्यम से ही ठोस बनाया जाता है।

उन्होंने अपनी हथेली में लगभग पांच तोला पारद लिया और फिर पद्मासन लगाकर हमारे सामने ही बैठ गए। उन्होंने एक या दो मिनट भस्त्रिका की और फिर पारे के सामने जब प्राणायाम की उर्ध्वरिता क्रिया सम्पन्न की, त्यों ही हथेली में ही वह पारा मोम की तरह सख्त हो गया। हमारे लिए यह सर्वथा नया प्रयोग था। जड़ी-बूटियों और अग्नि के माध्यम से तो पारे को ठोस बनाने की विधियां देखी और सुनी थीं, परन्तु मात्र शरीर के अन्दर ही ऊष्मा को प्राणवायु के माध्यम

से मिश्रित कर पारे को ठोस बनाना पहला प्रयोग था।

फिर गुरुदेव ने उस मोम की तरह के पारे को शिवलिंग का आकार देते हुए, थोड़ी देर हवा में रखा, तो वायु-स्पर्श से वह ठोस होता गया और कुछ ही क्षणों में शीशे की तरह ठोस हो गया।

गुरुदेव ने कहा, "यह पारद शिवलिंग विश्व का अद्वितीय शिवलिंग कहा जाता है। यदि इसके माध्यम से कुबेर साधना सम्पन्न की जाए, तो व्यक्ति मनोवांछित द्रव्य प्राप्त कर सकता है और जीवन में अतुलनीय धन, यश का अधिकारी हो सकता है।"

प्राण–प्रतिष्ठा

उन दिनों हम मैसूर में थे। वहां के प्रतिष्ठित सेठ करणराज जी ने एक मन्दिर बनवाया था, जिसमें वेंकटेश्वर की मूर्ति स्थापित करने का उनका विचार था। उनका कई दिनों से आग्रह था कि उस मन्दिर और मूर्ति की प्राण-प्रतिष्ठा तथा उद्घाटन गुरुदेव के हाथों से ही सम्पन्न हो।

रात्रि को हम चांदनी में बैठे हुए थे। गुरुदेव ने कहा, "किसी भी प्रकार की मूर्ति अपने-आप में प्राण-शक्तिहीन होती है, जब तक कि उसमें विशेष मन्त्रों से प्राण-प्रतिष्ठा न कर दी जाए। प्राण-प्रतिष्ठा करने के बाद ही उसमें चैतन्यता और तेजस आ सकता है।"

दूसरे दिन मन्दिर में मूर्ति को स्थापित किया और ठीक उसके सामने ही मुंह देखने का आठ फुट लम्बा और चार फुट चौड़ा शीशा रख दिया गया। यह शीशा क्यों रखा गया, इसका न तो हमें आभास था और न उस पर एक लाख की भीड़ को ही, जो प्राण-प्रतिष्ठा के समय उपस्थित हुई थी।

गुरुदेव ने मूर्ति और मुंह देखने के शीशे के बीच मलमल का एक पर्दा टांग दिया। उन्होंने बताया कि मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा हुई है या नहीं, इसका प्रमाण यही है कि प्राण-प्रतिष्ठा के बाद ज्यों ही पर्दा हटाया जाता है और मूर्ति का पहला तेजस दर्पण पर पड़ता है, तभी उस तेजस को सहन न कर पाने की वजह से वह तड़ककर टूट जाता है।

यह बात कानोकान सभी उपस्थित श्रोताओं तक पहुंच चुकी थी। शायद

सभी ऐसा सोच रहे थे कि ऐसा कैसे हो सकता है? बड़े-बूढ़ों ने कहा, हमने अपने जीवन में कई मूर्ति प्राण-प्रतिष्ठा समारोह में भाग लिया है। ऐसा तो कहीं देखा नहीं।

गुरुदेव ने विशेष मन्त्रों से मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा सम्पन्न कराई। इसमें लगभग तीन घंटे लग गए, और प्राण-प्रतिष्ठा का अन्तिम मन्त्र पढ़ने के बाद हमें ही नहीं, अपितु समस्त उपस्थित दर्शकों को लगने लगा, जैसे मूर्ति में कुछ विशेष तेजस्विता आ गई हो।

प्राण-प्रतिष्ठा सम्पन्न कराकर हज़ारों लोगों की उपस्थित भीड़ में ज्यों ही बीच में पड़े पर्दे को एक तरफ़ सरकाया, त्यों ही दर्पण के टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गया। वास्तव में यह अप्रत्याशित घटना थी।

गुरुदेव ने इसका स्पष्टीकरण देते हुए बताया, "यह मन्त्रों का प्रभाव है। प्राण-प्रतिष्ठा का तात्पर्य यह है कि मूर्ति में तेजस्विता आनी चाहिए और तेजस्विता का प्रभाव दर्पण झेल नहीं पाता।"

आज वह मन्दिर में अत्यन्त भव्य और प्राण चेतना युक्त है। लोगों का आज भी कहना है कि इस मूर्ति के दर्शन से मन में पूर्ण सन्तोष और आनन्द प्राप्त होता है।

नवग्रह स्थापन

यह मैसूर की ही घटना है, वहां करणराज जी ने मूर्ति स्थापन से पहले यज्ञ रखा था, जिसमें उत्तर और दक्षिण भारत के विद्वानों को बुलाया था। उन्होंने वेदी के साथ-साथ प्रत्येक ग्रह स्थापन अलग-अलग किया था।

जब ग्रह स्थापन हो चुके और यज्ञ प्रारम्भ हुआ, विशेष मन्त्रों से ग्रहों का आह्वान व स्थापन प्रयोग सम्पन्न हुआ। उस समय सेठ जी भी पूज्य गुरुदेव को लेकर यज्ञ-मंडप में पधारे।

यज्ञ में एक संन्यासी को आया हुआ देखकर दक्षिण भारतीय पंडितों ने नाक-भौं सिकोड़े। शायद उन्हें उनका आना अच्छा नहीं लगा होगा, या उन्हें यह भय रहा होगा कि कहीं यह कोई त्रुटि न निकाल दें।

गुरुदेव ने पूछा, "कर्मकांड के अनुसार सारे कार्य सम्पादित हो चुके?"

उन पंडितों में श्रेष्ठ माधवप्रसाद जी ने कहा, "यह हम पंडितों का कार्य है, प्रवचन करना नहीं।"

मुझसे कहा, "तू जाकर जो सूर्य ग्रह स्थापन वेदी है, उस पर हाथ से स्पर्श कर, जिससे ज्ञात हो सके कि वहां सूर्य स्थापित है भी या नहीं।"

यह बात ज़ोर से ही कही थी, इसलिए सभी पंडितों ने सुना। मैंने उठकर सूर्य स्थापित वेदी को स्पर्श किया तो मुझे कुछ भी विशेषता अनुभव नहीं हुई।

पंडितों ने कहा, "वहां अनुभव क्या होना है? हमने मन्त्रों के साथ सूर्य का आह्वान और स्थापन किया है, फिर षोडशोपचार पूजन कर उनको संस्थापित किया है।"

गुरुदेव ने कहा, "आपने ज़रूर सूर्य का आह्वान किया होगा, पर सूर्य वहां स्थापित तो नहीं हुए। अगर उस वेदी पर सूर्य स्थापित होते, तो इसके स्पर्श करने पर सूर्य के होने का आभास तो मिलता।"

माधवप्रसाद जी ने कहा, "आभास क्या मिलेगा? आभास क्या होता है?"

गुरुदेव ने सेठ जी से कहा, "आप एक हाथ से सूर्य स्थापित वेदी को स्पर्श करें, और दूसरे हाथ से चन्द्र स्थापित वेदी को स्पर्श कर मुझे बताएं कि आपको कैसा लग रहा है।"

गुरुदेव की आज्ञा पाकर यज्ञ संचालक और प्रबन्धक सेठ जी ने दोनों वेदियों को स्पर्श किया। उन्होंने भी कहा कि कुछ भी अतिरिक्त आभास नहीं हो रहा है।

गुरुदेव ने उत्तर दिया, "वहां केवल चावलों की ढेरी ही है, वहां न तो सूर्य स्थापित हुए हैं और न चन्द्रमा ही। बाक़ी ग्रह भी स्थापित नहीं हुए होंगे।"

माधवप्रसाद जी की त्योरियां चढ़ गईं और लगभग चीख़ते हुए बोले, "मैं पंडित हूं, और पिछले चालीस वर्षों से यह कार्य कर रहा हूं। मुझे चैलेंज देने वाला कोई पैदा ही नहीं हुआ।"

स्वामी जी ने अत्यधिक नम्रतापूर्वक जवाब दिया, "निश्चय ही आप विद्वान और पंडित हैं। मैं तो यह कह रहा हूं कि उस वेदी पर ग्रह स्थापित नहीं हुए हैं और न वे आए हैं, जब कि मन्त्रों का प्रयोजन तो यह है कि जिसका आह्वान किया जाए, वह उपस्थित हो।"

इसके बाद गुरुदेव ने सूर्य मन्त्र से उनका आह्वान किया और उसी वेदी पर उन्हें स्थापित किया। तत्पश्चात यजुर्वेद के 'इमनदेवा' मन्त्र से चन्द्र का आह्वान किया और उसे उनकी वेदी पर स्थापित किया।

माधवप्रसाद जी ने सूर्य वेदी के समीप पहुंचकर उसके मध्य में ज्यों ही उंगलियों से स्पर्श किया, त्यों ही उनका हाथ झुलस गया। हाथ के रोम जल उठे और कोहनी तक हाथ ऐसा हो गया जैसे अग्नि में हाथ चला गया हो। उन्होंने लगभग चीख़ते हुए हाथ हटा लिया।

सारे उपस्थित श्रोता स्तब्ध थे। उन्होंने पहली बार एहसास किया कि यदि सही ढंग से मन्त्र उच्चरित हो, तो आज भी देवता उपस्थित होते हैं। पंडित जी पर मानो घड़ों पानी पड़ गया था।

फिर गुरुदेव ने सेठ जी से कहा, "आप चन्द्र वेदी पर जाकर स्पर्श कर देख लें कि वहां चन्द्र स्थापित हैं या नहीं।"

गुरुदेव की आज्ञानुसार सेठ जी उठे और उन्होंने ज्यों ही चन्द्र वेदी को स्पर्श किया, तो उन्हें ऐसा लगा जैसे पूरा हाथ बर्फ़ में चला गया हो। उस एक सेकंड में ही हाथ का ख़ून जमता हुआ-सा अनुभव हुआ। उन्होंने कहा, "बहुत ही ठंडा है। हिमवत।"

उनके साथ-ही-साथ हम भी उठ खड़े हुए और लोगों के आग्रह के बावजूद हम मैसूर से प्रस्थान कर गए।

भू द्रव्य सिद्धि

यह घटना भुवनेश्वर की है। वहां के भाई घनश्याम जी गुरुदेव के शिष्य और साधक हैं। गुरुदेव के प्रति उनके मन में अत्यधिक श्रद्धा है।

उनके बाप-दादा करोड़पति थे, पर काल का कुछ ऐसा प्रभाव हुआ कि सब-कुछ बिक गया और घनश्याम जी के पास बाप-दादों की हवेली के अलावा कुछ नहीं रहा।

हम उन दिनों कलकत्ता से जगन्नाथपुरी जा रहे थे। भुवनेश्वर में गुरुदेव ने एकाध दिन रुकने का निश्चय किया, क्योंकि पिछले पांच वर्षों से वे गुरुदेव को अपने घर बुलाना चाहते थे।

गुरुदेव को आया हुआ सुनकर वे वहां पहुंच गए थे और उनका अत्यधिक आग्रह था कि इस बार एकाध दिन के लिए ही सही, उनके घर रुकें।

हम सब भाई घनश्याम जी के यहां गए और उनकी विशाल हवेली को देखा, तो एहसास हुआ कि वास्तव में उनके पूर्वज अत्यधिक समृद्ध रहे होंगे। गजशाला, अश्वशाला आदि इतनी बड़ी थीं कि शायद वहां पचास-पचास हाथी एक साथ खड़े होते होंगे।

पर घनश्याम भाई अत्यन्त विपन्न और दुखी थे। यहां तक कि सुबह का भोजन बनता, तो शाम के भोजन की कोई उम्मीद नहीं रहती। इतना होने पर भी वे स्वाभिमानी थे और किसी से भी उधार नहीं मांगते थे। उनके ऊपर ज़रूरत से ज़्यादा क़र्ज़ा हो गया था और कोई उम्मीद नहीं लग रही थी कि वह अपनी ज़िन्दगी में यह क़र्ज़ उतार सकेंगे।"

गुरुदेव ने कहा, "इतनी अधिक दरिद्रता क्यों है?"

घनश्याम भाई ने आंखों में आंसू भरकर कहा, " शायद प्रारब्ध का ही खेल होगा। मैं उस पिता की सन्तान हूं, जिन्होंने अपने हाथों से करोड़ों रुपए दान में दे दिए। जब मेरे पिता इंग्लैंड गए, तो उन्होंने पानी का पूरा जहाज़ ही ख़रीद लिया था और उस पर छः हज़ार पीपे गंगाजल भरकर साथ ले लिया था, क्योंकि वे गंगाजल ही पीते थे। जहाज़ में नौकर-चाकर आदि की भीड़ थी। जब लन्दन पहुंचे, तो जिस होटल में ठहरे उसे ख़रीद लिया था। लगभग चार महीने वहां रहे और रवाना होते समय वह होटल एक बैरे को उपहारस्वरूप दे दिया, क्योंकि उसने बहुत सेवा की थी।

" ऐसे पिता की मैं सन्तान हूं, और आज तो स्थिति यह है कि मैं आप लोगों को सही ढंग से भोजन भी नहीं करा पा रहा हूं। उधार मैं लेता नहीं। जो कुछ बच गया है, उसी को बेचकर जीवन-निर्वाह कर रहा हूं। पुरानी कलात्मक वस्तुएं, पीतल की वस्तुएं बची थीं, धीरे-धीरे वे सब मैंने बेच डाली हैं। यदि मैं पूरी हवेली को भी बेचूं तब भी मैं क़र्ज़े से मुक्त नहीं हो सकता।."

गुरुदेव घनश्याम भाई के साथ पूरी हवेली में घूमे और बोले, "तुझे दुःखी होने की ज़रूरत नहीं है। भूल करके भी इस हवेली को बेचना मत। हवेली में इतना अधिक द्रव्य गड़ा हुआ है कि तू अपने पिता की तरह ही जीवन व्यतीत कर सकता है।"

घनश्याम भाई की आंखें आश्चर्य से खुली की खुली रह गईं। उन्हें भी यह विश्वास तो था कि हवेली में पूर्वजों का द्रव्य गड़ा हुआ होना चाहिए, पर उसके बारे में न तो कोई स्पष्ट संकेत था और न कोई जानकारी थी।

गुरुदेव ने कहा, "कार्तवीर्यार्जुन प्रयोग से गड़े द्रव्य का पता लगाया जा सकता है। यही नहीं, अपितु यदि कार्तवीर्यार्जुन प्रयोग को लोम-विलोम गति से सम्पन्न किया जाए, तो ज़मीन में चाहे कितना ही नीचे द्रव्य हो, वह ऊपर आ जाता है और फिर एक या दो फ़ुट की खुदाई करने के बाद ही वह द्रव्य प्राप्त हो जाता है।"

घनश्याम भाई की गुरु भक्ति और उनकी दरिद्रता को देखकर गुरुदेव का हृदय द्रवित हो उठा और उसी रात्रि को उन्होंने प्रयोग करवाने का निश्चय कर लिया। दूसरे दिन सुबह जगन्नाथपुरी के लिए प्रस्थान करना था।

रात्रि को उन्होंने मुझे आज्ञा दी, "तुझे यह प्रयोग सम्पन्न करवाना है। मैं तेरे पास बैठा रहूंगा। पहले 'दिग्बन्ध' अवश्य कर लेना, क्योंकि पुराने समय में जब ज़मीन में द्रव्य गाड़ते थे, तो उस पर तान्त्रिक क्रिया अवश्य सम्पन्न कर देते थे, जिससे कि अवांछित व्यक्ति के हाथों में वह न पड़ जाए या चोर खोदकर न ले जा सके।"

शाम को गुरुदेव की उपस्थिति में ही मैंने दिग्बन्ध क्रिया सम्पन्न कराकर कार्तवीर्यार्जुन प्रयोग सम्पन्न कराया और फिर हम गुरु भाइयों ने उस विशिष्ट स्थल को दो या तीन फ़ुट खोदा, तो उसमें से ताम्बे के बहुत बड़े-बड़े कलश निकले। चार-चार कलशों पर कलश रखे हुए थे। कुल सोलह कलश थे। वे हमने खींचकर बाहर निकाले। उनमें स्वर्ण-मुद्राएं भरी हुई थीं।

उस ज़माने में भी उन सारी स्वर्ण-मुद्राओं की क़ीमत एक करोड़ के आसपास रही होगी। गुरुदेव ने कहा, "सबसे पहले अपना क़र्ज़ा उतार लेना और फिर धार्मिक कार्यों में चित्त लगाते हुए अपने जीवन को आनन्दपूर्वक व्यतीत करना।"

घनश्याम भाई ने निकला हुआ सब द्रव्य गुरु के चरणों में रख दिया और कहा, "आप जहां भी, जिस प्रकार से भी चाहें, इसका उपयोग करें। यह तो आपका ही है।"

गुरुदेव ने कहा, "मुझे कुछ नहीं चाहिए। मेरी प्रसन्नता तो शिष्यों की

प्रसन्नता में है। यदि शिष्य सुखी और प्रसन्न हैं, तो मैं स्वतः ही प्रसन्न हूं।" और बिना एक पैसा भी भेंट स्वीकार किए, प्रातः हम लोगों के साथ आगे की यात्रा के लिए रवाना हो गए।

व्याक्षी तन्त्र

हम लोगों ने भी व्याक्षी तन्त्र के बारे में काफ़ी सुन रखा था कि यह सर्वथा गोपनीय और महत्त्वपूर्ण तन्त्र है। इसके माध्यम से पुरुष को स्त्री या स्त्री को पुरुष बनाया जा सकता है और इसमें तात्त्विक रूप से किसी प्रकार की कोई न्यूनता नहीं रह पाती।

इसका प्रमाण भी हमें एक बार देखने को मिला। उन दिनों गुरुदेव मद्रास में थे। वहां उनके ही प्रमुख शिष्य पीयूष शर्मा रहते थे।

जब रामेश्वर से गुरुदेव तिरुपति की ओर जा रहे थे, तो उन्हें शर्मा जी की याद हो आई। उन्होंने एक शिष्य को पहले भेज दिया, जिससे कि उन्हें सूचना दी जा सके। जब शर्मा जी को ज्ञात हुआ कि दो-तीन दिन में ही गुरुदेव उनके घर आने वाले हैं, तो उनके हर्ष का पारावार न रहा। उनकी आयु उस समय लगभग पैंसठ वर्ष की थी। उनकी पत्नी भी साठ वर्ष की हो गई थी। उनके घर में मात्र एक कन्या थी, जिसका नाम सुकीर्ति था। उसकी उम्र बाईस साल की हो गई थी और अविवाहित थी। शर्मा जी साधारण गृहस्थ थे। धन की न्यूनता थी। सुयोग्य वर पाने की चिन्ता उनके मन में थी। कई जगह उन्होंने प्रयत्न भी किया, पर कोई सफलता नहीं मिल पा रही थी।

गुरुदेव आए, तो उन्होंने वेदोक्त तरीक़े से उनका स्वागत किया और अन्दर लाकर बिठाया। फिर एक परात में गंगाजल से उनके चरण धोए और वह चरणामृत सबको बांटा।

रात्रि को बातचीत के प्रसंग में जब गुरुदेव ने सुकीर्ति के विवाह की बात चलाई, तो वृद्ध दम्पति ने कहा, "दुर्भाग्य से हमारे यहां कोई पुत्र नहीं हुआ। सुकीर्ति को हमने पुत्र की तरह ही पाला है। हम यह सोच-सोचकर ही बेहाल हो रहे हैं कि सुकीर्ति के जाने के बाद हमारा क्या होगा। यह घर तो श्मशान की तरह भुतहा बन जाएगा। हमारा तो यह जीवन बरबाद हुआ ही, मरने के बाद भी मुक्ति नहीं मिलेगी, क्योंकि बिना पुत्र के न मुक्ति मिल सकती है और

न घर में श्राद्ध आदि सम्पन्न हो सकते हैं।" और ऐसा कहते-कहते दोनों की आंखों में आंसू छलछला पड़े।

सुकीर्ति ने भी कहा कि "मैं विवाह नहीं करना चाहती। माता-पिता की वृद्धावस्था में पुत्र की तरह सेवा करना चाहती हूं।"

गुरुदेव के मुंह से निकल गया, "यदि तुझे पुत्र ही बना दें तो?"

हम सबने ही नहीं, अपितु वृद्ध दम्पति और सुकीर्ति ने आश्चर्य के साथ गुरुदेव की ओर देखा। बोले, "आप समर्थ हैं, आप कुछ भी सम्भव कर सकते हैं। यदि सुकीर्ति मेरा पुत्र हो जाए तो मैं अपना जीवन सार्थक समझूंगा।"

आगे शर्मा जी ने कहा, "मैंने कहीं पढ़ा था कि व्याक्षी तन्त्र के माध्यम से कन्या को युवक बनाया जा सकता है और उसमें किसी प्रकार की कोई न्यूनता नहीं रहती। महर्षि च्यवन ने सुधन्वा की पुत्री को पूर्ण युवक बनाया था। पर, अब शायद ये क्रियाएं लोप हो गईं या केवल पुराणों में ही सिमटकर रह गईं। कुछ कह नहीं सकता।"

गुरुदेव ने कहा, "न तो क्रियाएं लोप हुई हैं और न पुराण ही ग़लत हैं। सही समय पर कार्य सम्पन्न होते हैं। आवश्यकता है प्रखर व्यक्तित्व की, मन्त्रों के सही प्रयोग की। व्याक्षी तन्त्र तो आज भी जीवित और सप्राण है।"

शर्मा जी ने सतृष्ण नेत्रों से गुरुदेव की ओर देखा, उनकी बात को काटने का तो अधिकार या हिम्मत शर्मा जी में नहीं थी, मगर कुछ सोचकर वे चुप रह गए।

गुरुदेव ने उनके मन की बात ताड़ ली, बोले, "आप और अभी सुकीर्ति पर व्याक्षी तन्त्र का प्रयोग करेंगे, यदि सुकीर्ति की इच्छा हो। व्याक्षी तन्त्र के माध्यम से सुकीर्ति पूर्ण पुरुष बन जाएगी।"

सुकीर्ति ने सहर्ष स्वीकृति दे दी।

गुरुदेव ने आवश्यक उपकरण और पूजन की सामग्री मंगाई तथा एक तरफ़ सुकीर्ति को स्नान कराकर श्वेत वस्त्र पहनाकर बैठा दिया। दूसरी तरफ़ शर्मा जी को और उनकी पत्नी को बिठा दिया। सामने हम सब शिष्य बैठे हुए थे और एक तरफ़ मृगचर्म पर गुरुदेव स्वयं विराजमान थे।

गुरुदेव ने विशिष्ट क्रियाओं के माध्यम से व्याक्षी तन्त्र का प्रयोग प्रारम्भ किया। यह तन्त्र अत्यन्त पेचीदा और दुष्कर है, इसमें योग मन्त्र और क्रियाओं का अद्भुत समन्वय है।

हर आधे घंटे बाद एक विशिष्ट क्रिया सम्पन्न करने पर गुरुदेव अभिषेक की तरह सुकीर्ति पर कुछ करते और हमने देखा कि हर अभिषेक के बाद उसके शरीर में अन्तर आता जा रहा था। पहले उसका चेहरा कुछ कठोर बना। धीरे-धीरे हड्डियां सख़्त हुईं। चेहरे की बनावट में कुछ कठोरता आई और फिर मूंछों और दाढ़ी के काले बाल दिखाई देने लगे।

इसी प्रकार चौथे या पांचवें अभिषेक में सीना सपाट होने लगा और बारहवें अभिषेक में यह क्रिया सम्पन्न हो गई। हाथ और पैर रोमयुक्त हो गए थे। फैला हुआ कूल्हा सिमटकर समान हो गया था, और एक प्रकार से देखा जाए, तो सुकीर्ति के रूप में एक सुन्दर युवक बैठा हुआ था।

गुरुदेव ने सुकीर्ति को स्नान करके आने के लिए कहा। थोड़ी देर में सुकीर्ति शर्म के भार से दबी हुई आसन पर बैठ गई।

गुरुदेव ने कहा, "मैंने प्रयोग सम्पन्न कर लिया है और इसका नाम सुकीर्तिकुमार ही रख रहा हूं। अब यह पूर्ण स्वस्थ युवक है और सन्तानोत्पत्ति में समर्थ है। किसी प्रकार की कोई न्यूनता इसमें नहीं है। यद्यपि कुछ दिनों तक स्त्री-सुलभ लज्जा और संकोच इसकी आंखों में रह सकता है, परन्तु पन्द्रह-बीस दिनों में वाणी की कोमलता भी समाप्त हो जाएगी और उसमें पौरुष आ जाएगा। इसी प्रकार दृष्टि भी कठोर और सीधी हो जाएगी।"

यह बात दूसरे ही दिन चारों तरफ़ फैल गई। डॉक्टरों के एक दल ने गुरुदेव से अनुमति लेकर सुकीर्ति का पूर्ण परीक्षण किया और सबने एक स्वर से स्वीकार किया कि वह पूर्ण समर्थ युवक है। शारीरिक दृष्टि से किसी प्रकार की कोई न्यूनता नहीं है।

संयोग की बात यह कि उसी दिन शाम को मधुसूदन जी ओझा ने अपनी कन्या का विवाह शर्मा जी के पुत्र सुकीर्तिकुमार से करने का आग्रह किया। गुरुदेव ने इसकी स्वीकृति दे दी। ओझा जी की कन्या सुन्दर और योग्य थी। चार दिन बाद उन दोनों का विवाह भी हो गया।

चार वर्ष पूर्व मुझे पुनः मद्रास जाने का अवसर मिला। शर्मा जी और उनकी पत्नी का देहान्त हो चुका था, पर सुकीर्तिकुमार पूर्ण सद्गृहस्थ हैं। उनके दो पुत्र और एक पुत्री हैं और पूरा परिवार सुखी है। सुकीर्ति ने मुझे देखा तो पहचान लिया।

वास्तव में ही व्याक्षी तन्त्र भारतवर्ष की आश्चर्यजनक लुप्त विद्या है।

उर्वशी सिद्धि

उस वर्ष कुछ ऐसा संयोग था कि मानसरोवर यात्रा में केवल मैं अकेला ही गुरुदेव के साथ था। कैलास पर्वत के दक्षिण पार्श्व में एक बहुत लम्बी-चौड़ी स्फटिक शिला है। यह शिला इतनी बड़ी है कि इस पर एक साथ तीन-चार हज़ार व्यक्ति आराम से बैठ सकते हैं।

उस शिला पर एक वृद्ध संन्यासी बैठा हुआ साधना सम्पन्न कर रहा था। उनका नाम निर्वाणानन्द जी है और आज भी संन्यासियों में उनका नाम अत्यन्त सम्मान के साथ लिया जाता है। गुरुदेव के वे दीक्षा प्राप्त शिष्य हैं और उनके प्रति इनके मन में अनन्य श्रद्धा और सम्मान है। गुरुदेव के साथ छः वर्षों तक ये रह चुके हैं। गुरुदेव की आज्ञा से ही उन्होंने यह स्थान चुना है और कई वर्षों से ये साधनारत हैं।

उस दिन जब हम अचानक उस शिला के पास पहुंचे, तो गुरुदेव को आया हुआ देखकर निर्वाणानन्द जी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने उठकर गुरुदेव के हर्षातिरेक में चरण स्पर्श किए।

गुरुदेव ने पूछा, "निर्वाण, तुम्हें यहां कुछ तकलीफ़ तो नहीं है? तुम्हारी साधनाएं कैसी चल रही हैं।"

वृद्ध निर्वाणानन्द जी ने हाथ जोड़कर उत्तर दिया, "आपकी कृपा से साधनाएं तो ठीक चल रही हैं, और कोई तकलीफ़ भी नहीं है, परन्तु कभी-कभी यहां बिल्कुल अकेलापन अनुभव होता है। मीलों तक किसी का चेहरा भी देखने को नहीं मिलता।"

उस दिन गुरुदेव विनोद की मुद्रा में थे। बोले, "तो उर्वशी साधना सम्पन्न कर ले। वह नित्य यहां नृत्य भी करेगी और भोजन आदि की व्यवस्था भी कर

देगी। पर इसके लिए उर्वशी की क्रिया के रूप में साधना सम्पन्न करनी होगी।"

निर्वाणानन्द जी शर्म के मारे चुप हो गए। इस बुढ़ापे में उर्वशी की क्या साधना करनी है? वे कुछ बोले नहीं।

गुरुदेव ने कहा, "पहले यह तीन दिन की साधना सम्पन्न कर ले, बाद में जो तू साधना कर रहा है, इसे वापस नियमित कर लेना। इसमें कोई दोष भी नहीं।" और यह कहकर उन्हें उर्वशी साधना की विधि समझा दी।

तीन दिन तक निर्वाणानन्द जी ने उर्वशी साधना सम्पन्न की। चौथे दिन लगभग चार बजे जब साधना समाप्त हुई, तो हमने देखा कि आकाश में हल्के-हल्के सुरमई बादल छा गए हैं। ठंडी और सुगन्धित हवा बहने लगी है और सामने के पेड़-पौधों पर अचानक फूल खिल गए हैं और वे झूमने लगे हैं। प्रकृति में अचानक फूल खिल गए और झूमने लगे। प्रकृति में यह अचानक प्रविर्तन देखकर हम आश्चर्यचकित हो ही रहे थे कि तभी 'छन्न' की आवाज़-सी आई।

इस घनघोर जंगल में घुंघरुओं की यह आवाज़ चौंकाने के लिए पर्याप्त थी, पर बाद में यह सोचा कि कोई भ्रम हुआ होगा, हम शान्त हो गए और प्रकृति के परिवर्तन को देखने लगे।

तभी एक बीस-बाईस वर्ष की अत्यधिक सुन्दर युवती लाल वस्त्रों में सज्जित, शून्य में से उतरकर उस शिला पर अवतरित हुई। उसने नख-शिख शृंगार कर रखा था और वेणी गूंथी हुई; ललाट पर सुन्दर गोल बिन्दी, कानों में आभूषण और सारा शरीर आकर्षक ढांचे में ढला हुआ। ऐसा लग रहा था जैसे विधाता ने बहुत ही फ़ुर्सत के क्षणों में इस सौन्दर्यवती का निर्माण किया होगा।

हम अभी आश्चर्य से उबर ही नहीं पाए थे कि उसके शरीर से सुगन्ध प्रवाहित होने लगी। यह ऐसी सुगन्ध थी, जैसे व्यक्ति कामातुर बनने लगे। अत्यधिक संयमित और संयत जीवन बिताने के बावजूद उस समय मन में काम भावना का स्फुरण होने लग गया। फिर भी मैंने दिव्य मन्त्र से अपने-आप को आबद्ध किया और देखा तो वह सुन्दरी एकटक निर्वाणानन्द को ताक रही है।

यह स्थिति लगभग पांच-सात मिनट रही। मैं निर्वाणानन्द के मन में उठते हुए तूफ़ान और भावनाओं को समझ रहा था। वह अपने-आप में संघर्ष कर रहे

थे, पर इस संघर्ष में कौन विजयी होगा, कुछ सोचा नहीं जा सकता था। तभी वह युवती अपने स्थान से आगे बढ़ी और निर्वाणानन्द के पास आकर सटकर बैठ गई।

निर्वाणानन्द को ऐसा लगा जैसे एक हज़ार बिच्छुओं ने एक साथ डंक मार दिया हो। वे वहां से उछलकर खड़े हो गए और लगभग दस-पन्द्रह क़दम दूर खड़े होकर बोले, "तू कौन है? यहां क्यों आई है?"

वह कोमलांगी अपने स्थान से उठी और निर्वाणानन्द के पास जाकर खड़ी हो गई। बोली, "आपने ही साधना कर मुझे बुलाया है और फिर आप अनजान बन रहे हैं कि मैं कौन हूं और क्यों आई हूं? मैं तो अब आपके साथ ही रहने के लिए मन्त्रबद्ध हूं।"

आगे फिर सुन्दरी ने कहा, "मेरा नाम उर्वशी है और आपकी इस साधना से मैं क्रिया रूप में उपस्थित हुई हूं। जब तक आप चाहेंगे, मैं आपके पास रहने के लिए बाध्य हूं। यह बात भी सही है कि आपकी आज्ञा शिरोधार्य होगी।"

निर्वाणानन्द की सांस में सांस आई, बोले, "आप सामने बैठ जाएं और मेरा स्पर्श न करें।"

उर्वशी धीर-गम्भीर गज गति से आगे बढ़ती हुई, हमसे तीन-चार क़दम दूर सामने बैठ गई।

ऊपर चन्द्र की चांदनी थी। वह शुद्ध श्वेत शिला देदीप्यमान थी। हम दोनों बैठे हुए थे, और सामने ही उर्वशी अपनी विविध रोचक वार्ता से हम दोनों को प्रसन्न करने का प्रयत्न कर रही थी। कुछ समय बाद उसने सुन्दर लघु नृत्य भी प्रस्तुत किया।

प्रातःकाल लगभग पांच बजे उर्वशी ने कहा, "मैं जा रही हूं कि पुनः मध्याह्न के अनन्तर आपकी सेवा में उपस्थित होऊंगी।" और वह अदृश्य हो गई।

तभी एक तरफ़ से गुरुदेव आते हुए दिखाई दिए।

निर्वाणानन्द बोले, "गुरुदेव, यह क्या हो गया! इससे तो वह एकान्त लाख दर्जे अच्छा था! यह माया हटाइए, मैं ऐसा कुछ नहीं चाहता।"

"वह मध्याह्न के बाद पुनः आएगी और मना करने के बावजूद वह बैठी

रहेगी। आप लोग तो चले जाएंगे पर फिर मेरा क्या होगा? आप कुछ व्यवस्था करके जाइए।"

गुरुदेव ने कहा, "चिन्ता करने की कोई ज़रूरत नहीं है। वह नित्य मध्याह्न के बाद दस-पन्द्रह मिनट के लिए अवश्य आएगी और भोजन सामग्री देने के बाद चली जाएगी। मन में दृढ़ता रखनी चाहिए। इस प्रकार से घबराने से कैसे काम चलेगा?"

•••

रससाधना = ध्यान

पराश्चनी = सद्गुरु

गुप्त एवं तंत्र सिद्धियां जानिए...

विश्व प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य और तान्त्रिक

डॉ. नारायणदत्त श्रीमाली

की तंत्र शास्त्र पर लिखी गई पुस्तकें



श्मशान भैरवी

नेपाल की एक रियासत की कोमलांगी परम सुन्दरी राजकुमारी मृगाक्षी के अद्भुत-अनोखे तन्त्र-संसार की रोचक-रोमांचक दास्तान। हिमालय के महाश्मशान में बसने वाले भैरव-भैरवियों तथा अघोरियों की रहस्यमय जीवन-शैली और तन्त्र साधनाओं का आश्चर्य में डाल देने वाला वर्णन।

अपने गुरु के साथ मृगाक्षी का भयानक तन्त्र-युद्ध और उसमें विजय के बाद परम गुरु की शरण में जाने का जीवट भरा वृत्तान्त। एक ऐसी रचना, जो उपन्यास होने के साथ-साथ तन्त्र-क्षेत्र के नियमों, विधियों और उसके इतिहास तथा परम्परा से सीधा साक्षात्कार कराती है।

अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त ज्योतिषाचार्य तथा तन्त्र-शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान डॉ. नारायणदत्त श्रीमाली की चमत्कारिक लेखनी से निकला हिन्दी का एकमात्र तान्त्रिक उपन्यास है श्मशान भैरवी। एक अर्से तक नहीं भुलाई जा सकने वाली अनूठी कृति श्मशान भैरवी।

ISBN 978-81-216-0510-6